अपलक

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

रा ज क म ल प्र का श न
दिल्ली   बम्बई   नई दिल्ली

मूल्य तीन रुपये आठ आने

प्रकाशक:
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, दिल्ली।
मुद्रक:
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली।

श्रीमती इन्दिरा गांधी को

इन्दु बेटी,

जिस दिन तुम्हारा विवाह हुआ था
उस दिन अनेक जनों ने तुम्हें,
भेंट-उपहार समर्पित किये थे।
मैं निष्कांचन मन मसोस कर रह गया।
तुम्हें क्या देता ?
उसी दिन सोचा थाः
अपनी कोई कृति तुम्हें दूँगा।
इतने दिन बीत गए।
आज वह अवसर आया है।
यह 'अपलक' नामक मेरा गीत-संग्रह
स्वीकार करो, बेटी।

तुम्हारा मंगल-प्रार्थी,
बालकृष्ण शर्मा

मेरे क्या सजल गीत ?

यह मेरा एक और गीत-संग्रह प्रकाशित हो रहा है। मैं इन गीतो के सम्बन्ध मे क्या कहूँ ? पाठक और समीक्षक अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल इस बात का निर्णय करेंगे कि ये कैसे हैं। अपने सम्बन्ध में मै निःसंकोच यह कहता हूँ कि मुझमे साधना का अभाव है। साहित्य-साधना के लिए, माता सरस्वती की उपासना के लिए, जिस एकनिष्ठा की आवश्यकता होती है वह मुझमे नही रही। जीवन एक प्रकार से उखड़ा-उखड़ा-सा रहा है। यदा-कदा, जब कुछ भीतर से खुट्-खुट् हुई, लिखने बैठ गया। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि व्यर्थ ही मैने काव्य-रचना का प्रयास किया। मेरे पास न शब्द हैं, न कला-कौशल है, न अध्ययन-गाम्भीर्य है; और न स्वेद-सामर्थ्य। तन्तुवाय एक-एक तार पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है; तब कही जाकर वह गर्व से कह सकता है कि 'झीनी-झीनी बिनी चदरिया।' एक मैं हूँ जो स्वर-ध्वनिमय शब्दो का ताना-बाना पूरने का नाटक रचता हूँ, पर, तन्तुवाय की ध्यान-केन्द्रीयता की साधना नही कर सका हूँ।

उपयोगिता, उपादेयता, प्रगतिशीलता, अपलायनवादिता, सामन्ती विचार-धारावरोधक विद्रोहवादिता, औद्योगिक पूँजीवाद-जन्य संघर्षोत्तेजक झण्डोत्तोलन, ले लो, खड्ग-पटक दो-म्यान-मय क्रान्ति-आवाहन, दन्द्रम्यमाना-दिग्-दिङ्नाद-प्रेरणा, दुर्दान्ताक्रान्तक-जम्भ-दन्तोत्पाटन-संदेश-वहनशीलता आदि सत् काव्य-सल्लक्षण मेरे इन गीतो मे कठिनता से मिलेगे। और फिर, मैं यह भी नहीं जान पाया हूँ कि मैं कौन-वादी हूँ। हमारे सौभाग्य से हमारे आलोचना-शास्त्र ने बड़ी उन्नति की है। परिश्रमी, अध्यवसायी, विद्वान् विचारको ने वर्तमान हिन्दी-साहित्य मे अनेकानेक-वादो के दर्शन हमे कराए हैं। मुझ-जैसे अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया चक्षुरुन्मीलितं यैः आलोचकैः महानुभावैः; तेभ्यः श्री गुरवेभ्यो नमः। उन महानु-भावों की आलोचना-तत्व-दीपिकाओ के प्रकाश में हम देख सके हैं कि हमारे काव्य-साहित्य में छायावाद है, मायावाद है, फ्रायडीय जाया-वाद है, रोमान्चवाद है, पलायनवाद है, वर्ग-संघर्षोत्तेजक प्रगतिवाद है, पूँजीवादी-शोषण-समझौतावाद है, सामन्तवाद है, प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्यवाद है, प्रगति-प्रतिगति-सीमान्तवाद है,

तितली-रंग-झाँई वाद है, आध्यात्मिकवाद है, आदर्शवाद है, यथार्थतावाद है, और, और भी न-जाने-क्या-वाद हैं।

इन सब वादों की चलनी मे मेरे गीत साफ़ छन जायंगे। यह मैं जानता हूँ। और आलोचक बन्धु इन गीतों मे यदि कोई तत्व की बात न पायें तो मुझे आश्चर्य न होगा। मुझे स्वयं ये गीत कुछ यों ही-से लगते हैं। कदाचित् एक बार मैंने कहा था कि तुलसी बाबा की 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' वाली उक्ति मुझ पर घटित नही होती। इसलिए यदि साहित्य-समीक्षक बन्धुओं को इन गीतो में कोई तत्व की बात न दिखाई दे तो मुझे उनसे अनख मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होगा। जब मै यह कहता हूँ तो कोई महानुभाव यह न समझ लें कि मैं द्विपद प्राणी निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि आगमापायी अनित्य द्वन्द्वों से परे हो जाने की अपनी स्थिति प्रकट कर रहा हूँ। नही। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि यदि किन्हीं बन्धुओ को इन गीतो मे कोई विशेष बात न दिखलाई दे तो मेरी उनके साथ सहानुभूति होगी।

मैं उस दर्शन को हृदयंगम नही कर सका हूँ जो मानव की ज्ञान-उपलब्धि को केवल इन्द्रियोपकरण-जन्य मानते है। पदार्थवादी पंडित, बाह्य जगत् की, मानवेन्द्रियों पर होने वाली प्रतिक्रिया में, ज्ञान का आरम्भ देखते हैं। हम सब बाह्य पदार्थों की प्रतिक्रिया—अपनी इन्द्रियो पर होने वाली प्रतिक्रिया—से पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। शीत-उष्ण, मधु-कटु, दूर-निकट, घन-तरल, अन्धकार-प्रकाश आदि का ज्ञान निःसन्देह संस्पर्शज है, अर्थात् इन्द्रिय-जन्य है। पर इस ज्ञान को केवल इन्द्रिय-कम्पन-जन्य मान लेना इसलिए भ्रमात्मक है कि इस प्रकार के ज्ञान मे मानव ने जो एकसूत्र-बद्धता तथा कार्य-कारणता विकसित की है वह केवल-ऐन्द्रिक प्रतिक्रिया द्वारा उपलब्ध नही होती है। मेरी सैद्धान्तिक मान्यता इस प्रकार की होने के कारण मैं कला-साहित्य-समीक्षा के उस मान-दण्ड को भ्रामक मानता हूँ जो प्रत्येक साहित्यिक कृति अथवा कला-कृति को सामाजिक परिस्थिति के ऊपर आत्यन्तिक रूप से आधारित कर देता है।

निश्चय ही भौतिक शरीरधारी मानव पदार्थ-मूलक धरातल पर कार्य करता है। बाह्य परिस्थितियाँ साहित्य-कृतियो को प्रभावित करती हैं, पर मानव की न-इति-प्यास को भौतिक अभाव-जन्य कहना अनर्थ-मूलक है।

विचारको में एक प्रकार का आग्रह होता है। यदि ऐतिहासिक क्रम से हम मानव की कर्म-प्रेरणाओ के सम्बन्ध में समय-समय पर दिये गए कारणोंपर विचार करें तो हम यह देखेंगे कि कुछ काल तक एक सिद्धान्त बहुत बल-पूर्वक चलाया जाता है और फिर वह जैसे सामाजिक अचेतन-स्तर पर उठाकर रख दिया

जाता है। पर कुछ काल तक तो वही सिद्धान्त ध्रुव सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। मानव-कर्म-प्रेरणाओं और मानव के तात्विक विचारों के सम्बन्ध मे यही क्रम दिखलाई देता है।

एक समय था जब बहुत उच्च स्वर से इस बात का प्रतिपादन किया जाता था कि सुख की लालसा से मानव के कर्म प्रेरित होते हैं। और सुख भी ऐसा जिसका रूप आधिभौतिकतामय था। आधिभौतिक सुखवादी तत्ववेत्ता (Hedonist Philosophers) मानव-कर्म की समस्त प्रेरणाओं को मानव की सुख-लालसा मे निहित पाते थे। ऊँचे-से ऊँचा वैयक्तिक एवं सामाजिक बलिदान, कष्ट सहन एवं समर्पण मानव की सुख-इच्छा द्वारा प्रेरित माना जाता था। किन्तु आज वह अवस्था नहीं रही। ज्यो-ज्यो विचारों मे परिपक्वता आती गई त्यों-त्यो आधिभौतिक सुखवाद के सिद्धान्त भ्रामक समझे जाने लगे। मानव की कर्म-प्रेरणा को उस सुख-वाद की परिधि में बाँधे रख सकना असम्भव हो गया। त्याग, अलख की टोह, बहुजन-मुक्ति-भावना, सेवा आदि के विचार तो मानव-कर्म को प्रेरित करते हैं न? तब केवल सुख-इच्छा को कर्म की मूल प्रेरणा कैसे मान लिया जाय? तात्पर्य यह कि वह सुखवादी विचार-धारा भ्रान्त समझी गई।

इसके उपरान्त, मानव-कर्म के शुभाशुभ स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में आधिभौतिक सुखवाद के पुत्र उपयोगितावाद की तूती बोली। पर, सदाचार-शास्त्र के इस सिद्धान्त में भी मानव के प्रौढ़ विचार ने न्यूनता का अनुभव किया। मैं उस न्यूनता का विशद ऊहापोह नही करूँगा। इतना ही जान लेना अलम् है कि उपयोगितावाद के 'अत्यधिक जन-समूह के अत्यधिक कल्याण' (Greatest good of the greatest number) वाले सिद्धान्त में आचार-विषयक ऐसी त्रुटियाँ दृष्टिगत हुईं जिनके कारण उस सिद्धान्त को भी सर्वमान्यता नही दी जा सकी। साधन और साध्य के झमेले उठ खड़े हुए। इस बात की ओर संकेत करने का अर्थ इतना ही है कि एक समय जो सिद्धान्त सर्वमान्य हो रहा था वह अधूरा जँचा और मानव-विचार ने उसे पूर्ण सत्य के रूप में ग्रहण नही किया।

कुछ काल तक इस सिद्धान्त की भी धूम रही कि मानव-कर्म केवल यौन-भावना से प्रेरित होते हैं। कला, कौशल, साहित्य, जन-सेवा, सबकी प्रेरणा यौन-भावना से निःसृत समझी गई। सुकरात का विषपान, सिद्धार्थ का गृह-त्याग, ईसू खीस्ट का सूली चढ़ना—सबके पीछे योनि-आकर्षण रहा—इस प्रकार की उपहासास्पद बात कहने वाले भी हुए, और कदाचित् है। आज मानव-विचार इस फ्रायडीय जायावाद की सीमाओं को समझ चुका है और उसके खोखलेपन को भी देख चुका है।

और, विचार-जगत् मे यह हम देख ही चुके हैं कि भौतिक विज्ञान (Physics) विषयक इतिनैश्चित्यमय यान्त्रिक सिद्धान्त (Mechanistic Principle) आज हवा मे उड़ गया। आज का भौतिक विज्ञान अनैश्चित्य-वाद (Theory of Indeterminacy) का सिद्धान्त मान चुका है। जो भौतिक इति-नैश्चित्यवाद उन्नीसवी शती के विज्ञान का एक प्रकार से स्वयंसिद्ध अंग था वह आज मिथ्या हो गया है।

मैंने ये बातें इसलिए कही है कि एकाङ्गी सिद्धान्तो को पकड़ बैठने का जो हमारा आग्रह है वह कुछ कम हो। आज के हमारे आलोचक बन्धुओं में कुछ ऐसे हैं जो साहित्य और कला की कृतियो को एक विशेष प्रकार के मान-दण्ड से नापने लगे है। मैं उनके अध्यवसाय, परिश्रम, अध्ययन और विशिष्ट सिद्धान्त-प्रेम का आदर करता हूँ। पर, मैं यह निवेदन अवश्य करना चाहता हूँ कि वे अपने मस्तिष्क को अचलायतन न बना लें, विचारों को मुक्त वातावरण में पलने दें और अपने को निगड-बद्ध न कर ले। यह बात हमें समझ लेनी है कि मानव मानव है—वह केवल सामन्तवाद, पूँजीवाद, वर्गवाद, भौतिकवाद आदि का मुरब्बा-मात्र नहीं है। जिस वैज्ञानिक भौतिकवाद को वे बन्धु ध्रुव सत्य माने बैठे है उसकी ऐतिहासिक रूपरेखा को सँवारने वाला उन्नीसवी शती का वह भौतिक विज्ञान है जिसका स्वरूप आज नितान्त रूप से परिवर्तित हो गया है। जब स्वयं भौतिक विज्ञान में अनैश्चि-त्यवाद समाविष्ट हो गया है तब समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र, अर्थनीति शास्त्र, साहित्यालोचन शास्त्र एवं कला-निर्णय शास्त्र मे जड़तापूर्ण इति-नैश्चित्यवाद का पल्ला पकड़कर चलना साहस का काम भले ही हो, बुद्धि-संगत नहीं हो सकता। तर्क किया जाता है कि यतः रामायण सामन्तकालीन सामाजिक स्थिति-संभूता है अतः सामन्त राम को साक्षात् परमेश्वर बनाने, मनाने और मानने का उसमें आग्रह है। राजा में ईश्वरत्व स्थापित करके जन-समूह को विद्रोह करने से रोकना ही तत्कालीन समाज-स्तम्भ-धारियो का काम था। इसी मे उनका, उनके वर्ग का, हित था। इस प्रकार रामायण तत्कालीन शोषक वर्ग के हित को सुरक्षित रखने की प्रेरणा से निर्मित हुई। कहिये, कैसी कही? उदाहरण चाहते हो तो 'शूद्र, गँवार, ढोल, पशु, नारी' वाली पंक्तियाँ विद्यमान हैं! देख लीजिये, तुलसी बाबा ने किस चतुरता से अपने वर्ग का हित-साधन किया है!! निवेदन है कि क्या वास्तव में इस प्रकार का प्रलाप साहित्यालोचन है? घुटना मारने पर आँख फूट सकती है—इस तरह कि घुटने पर चोट लगने से आदमी भर-भराकर औंधे मुँह गिरे और भूमि के काँटे उसकी आँखों में चुभ जायं! पर, इससे 'मारूँ घुटना फूटे आँख' वाली लोकोक्ति तर्क-बुद्धि-युक्ति-संगत सिद्ध नहीं होगी।

जीवन-तत्व को, मानव की अभिव्यक्ति-प्रेरणा को, उसकी कर्मरति के स्रोत को इस प्रकार सामन्त-पूँजी-शोषण-वर्ग-वादों और आर्थिक पदार्थवादों की चौखट में जड़ने का प्रयास मानव-समाज के तत्व-निर्णय-प्रयत्न के इतिहास में एक महत्वपूर्ण विकास अवश्य है। परन्तु यदि इस ओर अत्यधिक खींचा-तानी की जायगी तो हम यथार्थ से दूर चले जायंगे।

उदाहरण के लिए एक दृष्टान्त लीजिये। मनुष्य के मन में चिन्ता, क्रोध या भय का तीव्र संचार होता है, तब उसका स्नायु-तन्त्र संकट का संकेत करता है और मनुष्य की इन्द्रियाँ और ग्रन्थियाँ इस चिन्ता-क्रोध-भय के संकट का सामना करने के लिए कार्यरत हो जाती हैं। हमारी एड्रीनल ग्रन्थियाँ इस प्रकार के मनो-विकारों से शरीर के सन्तुलन की रक्षा के लिए एड्रीनेलीन नामक द्रव्य को हमारे रक्त में वाहित करती हैं। यह द्रव्य शरीर की रक्त-शर्करा (Blood Sugar) में आवश्यकता से अधिक वृद्धि कर देता है। इस शर्करा को शरीर-सात् करने के लिए हमारी पैंक्रियस नामक ग्रन्थियाँ देह में इन्सुलीन नामक पदार्थ को स्रवित करती हैं। क्रोध या चिन्ता या भय की अवस्था में शरीर की ये क्रियाएं होती हैं। इस सत्य को लेकर यदि हम यह प्रतिपादित करने लगें कि भय या चिन्ता या क्रोध, एड्रीनल और पैंक्रियस ग्रन्थियों के एड्रीनेलीन और इन्सुलीन स्राव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—यदि इस प्रकार की सिद्धान्त-स्थापना हम करने लगें—तो क्या वह बात तर्क-संगत होगी?

निःसन्देह भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ—सामन्तशाही, पूँजीवादी, वर्ग संघर्ष-कालीन या समाजवादी परिस्थितियाँ—मानव के कर्मों, उसकी अभिव्यक्तियों और उसकी प्रेरणाओं पर भिन्न-भिन्न रूप की प्रतिक्रियाएं करती हैं। पर, इन्हीं को समूचा मानव मान बैठना ठीक नहीं। निश्चय ही मानव रोटी है,—अन्नं वै प्राणाः—पर वह रोटी ही है, ऐसा मानना असत्य और अतार्किक है। मानव में परिस्थितियों के विपरीत भी कर्म करने का सामर्थ्य विद्यमान है। वह केवल भूत-संघ नहीं है—न च भूतसंघः। वह और कुछ भी है—चाहे न मानिये आप कि वह निष्कल ब्रह्म है—यदि इतनी बात मान ली जाय कि वह और कुछ भी है, तो उसकी साहित्य-कृति के ये पदार्थवादी मान-दण्ड असत्य, अयथार्थ एवं भ्रामक दिखाई देंगे।

शेली कहता है—

हे (पश्चिमी) झंझानिल!
जब तुषार-काल आता है
तब क्या वसन्तागम में अत्यधिक विलम्ब हो सकता है?

यार लोग, अपने अधकच्चरे तर्क का आश्रय लेकर कह सकते हैं, लो, यहाँ शेली पलायनवादी हो गया है। कवि केवल वसंतागम की आशा लिये बैठा है। अरे, वसन्त को लाने के लिए वह प्रयत्न-सन्देश क्यों नहीं देता? मानवता ठिठुर रही है। उसका रक्त जम गया है! पूँजीवादी शीत का राक्षस उसे निगले जा रहा है। और एक कवि शेली है जो जन-गण को, इस शीत के राक्षस को परास्त करने का संदेश न देकर केवल भाग्यवाद की—वसन्त के आगमन की अपरिहार्यता की—बात कहता है और इस प्रकार जनता को पूँजीवादी शोषण का शिकार बने रहने पर विवश करता है। उसने यह भाग्यवादी अहिफेन वितरित किया है ताकि जनसमूह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और पूँजीपतियों द्वारा शोषित-चोशित होते जायं। ठीक ही तो है। अन्ततः शेली उन्नीसवीं शती के शोषणवादी समृद्ध पूँजीकाल की उपज जो ठहरा। वह तो अपने वर्ग को जन-गण के क्रोधानल से बचाने के लिए ऐसी बात कहता ही। शीतकाल का त्रास सहते जाओ, भाई, क्या करें? हाँ वसन्त आयगा, उस का आगमन निकट ही है। पर, जब तक नहीं आता तब तक तो विवशता है ही। वाह शेली, बड़े घुटे हुए हो। वसन्तागम का आश्वासन देकर, शीत का त्रास सहते जाने की बात तुमने वैसी ही कही जैसी कि पादरी लोग सामन्त-पूँजीवाद की रक्षा के लिए जन-समूह को स्वर्ग-प्राप्ति की बात सुनाते रहते हैं। इसी प्रकार लोगों को अफीमची बनाया जाता है।

यदि प्रगति-उपासक इस प्रकार का तर्क करे तो वह वितण्डावाद के अतिरिक्त और कुछ न होगा। यह तो शेली का सौभाग्य है कि 'पश्चिमी झंझानिल के प्रति आह्वान-गीत' नामक इस कविता में उसने झंझानिल से प्रार्थना की है कि हे कोप-ज्वलित भैरवी, तू मेरे प्राणों में समा जा, तू मम-मय हो जा। हे चण्डिके, मेरे मृत विचारों को, सूखे-सिकुड़े पत्तों के सदृश उड़ा ले जा ताकि अभिनव-जन्म-क्रिया शीघ्र गतिमती हो जाय! सारांश यह कि यदि शेली की वसन्तागम वाली पंक्तियों को इस प्रकार के आलोचना-दण्ड से पीटने लगें तो हम उसका पलेथन निकाल सकते हैं। पर, वह सत् समालोचना नहीं होगी।

विज्ञानवाद के नाम पर आज हमारे साहित्य में जो धमाचौकड़ी मच रही है, प्रगतिवाद के नाम पर जो व्यक्ति-समष्टि-सिद्धान्त प्रसारित किये जा रहे हैं, सामन्त-साम्राज्य-शोषण-वर्ग-विरोध के नाम पर जो चकर-दण्ड पेले जा रहे हैं वे वास्तव में इतने अवैज्ञानिक हैं कि जिसकी सीमा नहीं। विज्ञान के नाम से जो लोग इस प्रकार का विवेचन करते हैं वे वास्तव में कोई ऐसी बात नहीं कहते हैं जिस पर उन्होंने स्वयं स्वतन्त्र विचार किया हो। कुछ विचारों का वमन-मात्र ही उनका विज्ञान (?) सम्मत प्रगतिवाद है। कई बार यह कहा गया है कि वर्तमान हिन्दी-

काव्य-सााहित्य में जो एकाकीपन, पीड़ावाद और विवशता है, उसकी विवेचना वैज्ञानिक फ्रायडीय जायावाद और समाजवाद के सिद्धान्तो के अनुसार यदि हो तो उस एकाकीवाद, पीड़ावाद और विवशतावाद की प्रेरणाएं स्पष्ट हो जायंगी। अच्छा, भाई! यही करो। तब फ्रायडीय विचार का लैंगिक तत्व और समाजवादी विचार का पूँजीवादी समाज में प्रचलित व्यक्ति-पारतन्त्र्य-तत्व—ये दोनों प्रमाण के रूप में उपस्थित किये जाते हैं और कहा जाता है कि देखो, पूँजीवादी समाज मे जो यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अभाव है और इसके फलस्वरूप जो लैंगिक मिलन-बाधा उपस्थित होती है उसी के कारण हिन्दी-काव्य में पीड़ा, निराशा और एकाकीपन का आविर्भाव हुआ है। पूँजीवादी समाज मे मनुष्य क्रीत दास बन जाता है। वह एक पण्य वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नही रह जाता। इस प्रकार मानव मानव के बीच का सम्बन्ध भयानक अस्वस्थ अवस्था को पहुँच जाता है। तब जो सहृदय व्यक्ति हैं वे तड़प उठते है और अपने प्रिय के कल्पित कुन्तल सँवारते-सँवारते रो पड़ते हैं। इस प्रकार वेदना-मूलक रहस्यवाद और एकाकीवाद की सृष्टि होती है।

पर, दूसरी ओर, मार्क्स-बाबा-वाक्यं प्रमाणम् के सिद्धान्त को ही मानने वाले यह कह उठते है कि नही जी, पूँजीवाद जिस साहित्यिक अफीम को बॉटता है वह विवशता-जन्य नही है। अतः हिन्दी के पीड़ावादी साहित्य के लिए यह बात पूर्ण रूप से लागू नही होती। पूँजीवाद तो मजदूर-वर्ग को दासत्व शृङ्खला में जकड़े रखने के लिए दूसरी ही तरह का साहित्य प्रसारित करता है। हाँ वर्तमान हिन्दी साहित्य, विशेषकर काव्य-साहित्य में पलायनवाद है अवश्य, और वह इस कारण कि हिन्दी-कवियो का वैज्ञानिक सामाजिक दृष्टिकोण दूषित है। इस प्रकार का शब्द-जाल क्या वास्तविक साहित्यालोचन है?

क्या हम पूछे कि क्यों भाई, क्या रूस में अन्तर्वेदनामय साहित्य का सृजन नही होता? क्या रूसी युवक मनचाही युवती को प्राप्त कर आनन्द उठा सकता है और इस कारण क्या वह अपनी प्रेयसी के आगमन की बाट उत्सुकता-पूर्वक नहीं जोहता? और यदि ऐसा है तो क्या उस सीमा तक रूसी मनःस्तर नितान्त रस-हीन, उकठकुकाठ, असंस्कृत एवं जड़ नहीं हो गया है? और क्यों मित्रो, जब सूर बाबा ने 'पिया बिन नागिन कारी रात' जैसे अनेक गीत लिखकर वेदनामय साहित्य का सृजन किया वह क्या इस कारण कि उस सामन्तशाही युग में व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध पण्यमय हो गया था? अथवा, फ्रायडीय यौन-सम्बन्ध में गोकुल-मथुरा का अन्तराय आ गया था? यह बात तो सोचो, भाइयो, कि आत्यन्तिक सन्निकटता के होते हुए भी, दो हृदयो मे टीस, पीड़ा, वेदना उठ सकती है और मुखरित हो

सकती है। जब पूँजी-शोषण-वर्ग-भेद का अन्त हो जायगा तब भी प्रेमी हृदय वेदना विभोर होकर अवश्य रो-गा उठेगा कि :

ये घंटे घन-घन-घन गूँजे,
लो आधी रात हो गई, साजन,
किन्तु नहीं सुन पड़ी अब तलक
ओ सुकुमार, तुम्हारी पाँजन !

इसलिए मैं कहता हूँ कि इस प्रकार की तर्क-प्रणाली में अपनी विचारधारा को अत्यधिक मत बहाओ। वह प्रणाली केवल आंशिक सत्यवती है।

सामन्तवाद, पूँजीवाद, वर्गवाद आदि का समीक्षण अच्छा है। पर, उसको झल्ल-भल्ल अनर्थक प्रत्यादेश (Reductio ad absurdum) की सीमा तक ले जाना नितान्त अनुचित है। यदि कोई यह समझता हो कि हिन्दी-काव्य-साहित्य में प्रकटित द्वन्द्व-भावना सामन्तशाही के अवशेषों और साम्राज्यशाही के स्वार्थ प्रसार के कारण है तथा इनके तिरोहित होते ही यह द्वन्द्व समाप्त हो जायगा, तो मैं यही कहूँगा कि यह मान्यता अशुद्ध, तर्क-शून्य, थोथी और निःसार है। द्वन्द्व और उसकी वेदना-व्यथामयी अभिव्यक्ति मानव-जीवन के संग संश्लिष्ट है। पूर्ण वर्ग-विहीन समाज में क्या मानव इतना जड़, स्पन्दन-हीन, संवेदन-रहित एवं शूकर-संतोषवान् हो जायगा कि वह कस्त्वं ? कोऽहं ? के प्रश्न न पूछे ? वह पूछेगा, वह पूछ रहा है। इस कारण किसी भी समाज-व्यवस्था में मानव-हृदय के द्वन्द्व के तिरोधान होने की बात कहना भ्रान्तिमय है। हाँ, आत्मोपलब्धि की साधना में निर्द्वन्द्वता आ सकती है।

जो आलोचक यह कहते है कि हिन्दी के साहित्यिक गांधीवाद, उपनिषत् दृष्टिकोण और बौद्ध दर्शन से प्रभावित होने के कारण सामन्तवाद के पोषक हैं या उससे समझौता कर चुके हैं, उन आलोचकों से यदि कोई यह पूछे कि भाई, क्या तुमने कोई तीर मारा है, तो, वे यही कहेंगे कि हाँ, हम विचारों की क्रान्ति कर रहे हैं। ऐसे निष्क्रिय, पोथी-पन्थी, विचार-पुराय-जीवी, उच्छिष्ट-भोजी आलोचकों का जन-संघर्ष में कोई हाथ नहीं। वे जनता से कोसों दूर हैं। हाँ मुख-चर्य्या में वे प्रवीण हैं। पर, इस बात को जाने दीजिये। विवाद में व्यक्तिगत प्रश्न क्यों उठें ? हम यह निवेदन करते हैं कि यदि वे लोग उपनिषत्-बुद्ध-गांधी-दर्शन को किसी वाद से समझौता करने वाला मानते हैं तो वे असत्य बोलते हैं। इस देश के निवासियों को यह ज्ञात है कि अपने को पूँजीवाद के नाशकर्ता कहने वालों ने, वर्गहीन समाज की स्थापना का दम भरने वालों ने, अपने विप्लवकारी होने का ढिंढोरा पीटने वालो ने मानवता के भयानक संकट-काल में असीम निर्लज्जता,

कुत्सित नीचता, घोर राक्षसीपन, नग्न बर्बरता, पाशविक रक्त-लिप्सा, जघन्यतम स्वार्थपरता, घृणित अवसरवादिता एवं हिजड़ेपन से भरी कायरता का परिचय देकर पहले फाशीस्त शक्ति से और तदनन्तर साम्राज्यवाद से, पेट के बल रेंगकर, दाँत निपोरकर, समझौता किया। जिनके दर्शन-शास्त्र में समझौता करने का इतना बड़ा अध्याय है, वे यदि बुद्ध-दर्शन तथा गांधीवाद को सामन्तशाही से समझौता करने वाला बतायं तो उनकी इस मिथ्यावादिता पर हमें रंच-मात्र भी आश्चर्य नहीं होता।

हाँ, अवश्य ही उनकी दृष्टि मे गांधी-बुद्ध-मार्ग समझौता सिखाते हैं। क्योंकि ये दर्शन मानव को आरक्त नख-दन्तधारी, शोणितपायी भेड़िया बनने की प्रेरणा नही देते। ये दर्शन मानव को वास्तविक मानव बनाने की बात पर बल देते हैं। वर्गवादी भेड़ियो के असत्य दर्शन के सदृश गान्धी-बुद्ध के विचार रक्त की होली खेलने और विनाश की दावाग्नि प्रज्वलित करने का सन्देश नहीं देते। इसी कारण भारत की यह मानवी विचार-धारा उनकी दृष्टि मे समझौतावादी है। किन्तु, इन अस्थिरमति आलोचकों की दूषित विचार-शैली ने तो लेनिन के प्रिय कवि पुश्किन को भी पूँजीवादी कवि (बूर्ज्वा पोएट) कह मारा था। इनकी माया अपरंपार है।

मेरे इतना लिखने का तात्पर्य यह है कि साहित्यालोचन मे इस प्रकार की जो शैली चल पड़ी है वह साहित्य का यथार्थ मूल्याकन करने में नितान्त असमर्थ है। इतिहास की यथार्थवादिनी भाष्य-शैली और साहित्यालोचन की परिस्थिति-मूलक टीका-शैली एक सीमा तक हमारे ज्ञान को निखारती है। उनकी सीमाओ का ज्ञान दृष्टि के सन्निधान मे हो तब तो ठीक; अन्यथा 'वानर-कर करवाल' की उक्ति चरितार्थ हो जायगी। आज वही बात हो रही है। मानव के इतिहास को, मानव की संस्कृति को, मानव की अभिव्यक्ति को जब तक हम मानववाद की दृष्टि से नही देखेंगे तब तक काम न चलेगा। यदि हम इनकी ओर वर्गवाद या पूँजीवाद या समाजवाद की दृष्टि से देखते चले गए तो हमें चित्र का विकृत रूप ही दिखाई देगा।

इस प्रश्न पर रंच यो विचार कीजिये। मान लीजिये कि समाज मे पूर्ण रूप से वर्गहीनता स्थापित हो गई। तब क्या उस वर्गहीन, समतामय, शोषण-शासन-रहित समाज का मानव, जहाँ तक उसके मनोरागों का सम्बन्ध है, आज के मानव से बहुत भिन्न होगा? क्या उस वर्गहीन जन के करुण, मैत्र, प्रेमल, वत्सल भाव आज के मानव के इन भावों से भिन्न प्रकार के हो जायं? और यदि नहीं, तो उन भावों की अभिव्यक्ति क्या आज की अभिव्यक्ति से बहुत भिन्न हो जायगी?

हाँ, अभिव्यंजना के व्याज चाहे कुछ भिन्न हो जायं, पर और कोई गहरा अन्तर पड़ सकता है, यह मैं नहीं मानता। साम्यवादी समाज में मानव के इन रागों का रूपान्तर हो जायगा, यह मान सकना सम्भव नहीं। जब किसी गतिवान् वस्तु को देखकर कोई बच्चा वर्गहीन समाज में खिल-खिलाकर हँस उठेगा। और किलकारी भरने लगेगा तो उस वर्गहीन समाजवादी माँ को वैसा ही सुख होगा जैसा आज के पूँजी-शोषणवादी समाज की माँ को होता है। हाँ, इस सुख की अभिव्यक्ति के व्याज में अन्तर हो सकता है। आज की माँ, जो निर्धन और निःसाधन है, अपने बालक की किलकारी से उत्पन्न अपनी प्रसन्नता कदाचित् यों व्यक्त करेः—

आली, मैं निहाल-निहाल;
बैलगाड़ी निरख कर किलका समुद मम लाल;
आली, मैं निहाल-निहाल।

और, वर्गहीन समाज की भरी-पूरी माँ इस सुख को कदाचित् यों व्यक्त करेगीः—

आली, मैं निहाल-निहाल;
लख सुएटम-चलित नभ-रथ किलकता मम लाल;
आली मैं निहाल-निहाल।

उन दिनो एटम-शक्ति-चालित नभयान देखकर बच्चा हँसेगा; आज वह बैलगाड़ी चलती देख हँसे। पर उस किलक-पुलक से माँ को एक ही प्रकार का सुख मिलेगा। तब, मेरा प्रश्न यह है कि आज की काव्य-आलोचना में यह उछल-कूद क्यों ?

काव्य-साहित्य का पीड़ावाद मानव की अन्तर्हित करुणा का अभिव्यंजन-मात्र है। और, जब वर्गहीन समाज के मानव मे करुण भावना के तिरोधान की कल्पना नहीं की जाती है, तब मैं यह पूछता हूँ कि उस समय करुणा की अभि-व्यक्ति से जो साहित्यिक पीड़ावाद सृष्ट होगा वह भी क्या—जैसा कि आज के वेदनावाद के लिए विद्वान् आलोचक कहते है—पलायनवादमय सामन्तशाही समझौता—दर्शनमय एवं पूँजीप्रथा-विवशताजन्य अन्तर्द्वन्द्वमय होगा ? निवेदन है कि इस प्रकार वादो के विवाद में साहित्य-आलोचना को भ्रमित करते रहना व्यर्थ है।

मैं अपने गीतो के सम्बन्ध में क्या कहूँ ? जैसे हैं, पाठकों के सम्मुख उपस्थित हैं। जैसा कि मैं इस कथन के आरम्भ मे ही कह चुका हूँ, मैं माता सरस्वती के प्रति अव्यभिचारी भक्ति-भाव की साधना नही कर सका हूँ। मेरा जीवन प्रमाद-पूर्ण आलस्यमय और निद्राभिभूत रहा है और है। फिर भी कुछ लिखा है और मित्रों का आग्रह था कि वह प्रकाश में लाया जाय। सो, यह समारम्भ हो रहा है।

हाँ, एक बात कह दूँ। यदि आयुष्मान पण्डित प्रयागनारायण त्रिपाठी

मेरी तुकबन्दियो को एकत्रित करने और उन्हें क्रमबद्ध करने का प्रयास न करते तो मेरी कृतियों का प्रकाशन-क्रम सम्भव नही था। इसके और आगे भी मेरे जितने ग्रन्थ निकलेगे, उन सबका श्रेय प्रयागनारायण जी को ही है। मैं उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन कैसे करूँ ? वे मेरे निकट के जन हैं। मुझ आलसी को उन्होने उबारा, इसके लिए मैं उन्हे बधाई अवश्य देता हूँ।

४, विंड्सर प्लेस,
नई दिल्ली
२० सितम्बर १९५१

बालकृष्ण शर्मा

सूची

बिन्दु सिन्धु छोड़ चली

एक बिन्दु, इन्दु-मथित सिन्धु-लहर छोड़ चली,
लघु ससीम औ' असीम बांच लगी होड़ भली।

१

निज विराट रूप त्याग, बिन्दु बनी तन्वङ्गी,
अपरिमेय, अमित माप राशि हुई अणवङ्गी;
अगमा गति गम्य हुई अनिलानल-रँग-रङ्गी;
नाना विधि रूप धरे विचर रही गली-गली,
बिन्दु-सिन्धु छोड़ चली।

२

हर-हर करते गतियुत द्रुत मारुत रथारूढ़,—
अम्बर में विचरण की हिय में भर व्यथा गूढ़,—
लेने दिक्-काल-थाह निकली यह बिन्दु मूढ़;
निज असीम, अगम, गहन गृह से मुँह मोड़ चली;
बिन्दु, सिन्धु छोड़ चली।

३

क्षण में वह बाष्प बनी, क्षण में वह ओस-बिन्दु,
क्षण में घन-वारि-उपल, फिर, चातक-तोष-बिन्दु;

किन्तु आत्म-तुष्टि कहाँ, यदि न प्राप्त गहर सिन्धु ?
तन्मयता शून्य विलग रहनि इसे आज खली;
सिन्धु छोड़ बिन्दु चली।

४

अम्बर का भ्रमण किया; पैठी भू-गर्भ-बीच;
सरसाया नव-जीवन पादप, तृण सींच-सींच;
देखा चिरकाल-कलन; अवलोका ऊँच-नीच,
किन्तु न क्षण भर को भी गृह की सुधि रंच टली;
बिन्दु सिन्धु छोड़ चली।

५

ओ गंभीर स्नेह-सिन्धु, ओ सुदूर इन्दु पूर्ण,
इस बौरी बिन्दी का हुआ सकल गर्व चूर्ण;
विलग रूप अब असह्य, असहनीय चक्र घूर्ण;
घहर उठो सम्मुख अब, बीत चुकी युगावली;
बिन्दु, सिन्धु छोड़ चली।

ज़िला कारागार, उन्नाव,
दिनांक २२ जनवरी १९४३

आज हुलसे प्राण

आज हुलसे प्राण, पीतम, आज हुलसे प्राण;
ओ निठुर, तुमने दिया यह नेह का बरदान!
हुलसे आज आकुल प्राण;

१

उन मृदुल प्रियतम चरण पर—
अश्रु भीने युग नयन धर,—
हो गया कृत-कृत्य जीवन
थामकर हिय आह क्षण भर;
एक त्रुटि वह युग बनी, युग बन गया क्षण-मान;
पीतम, आज हुलसे प्राण।

२

सुघड़ साँचे में ढले हो,
प्राण, तुम कितने भले हो!
चिर निराश्रित विकल हिय को
यों समाश्रय दे चले हो,
सिहर उट्ठा यह, पड़ा था जो निरा म्रियमाण;
पीतम, आज हुलसे प्राण।

३

विकट मेरी दूर मंज़िल;
राह बन्धुर, निपट पंकिल,
है सहारा अगम मग में
तव चरण-नख-ज्योति झिलमिल;
मिल गई यौवन-निशा में ज्योतिमय मुसकान;
पीतम, आज हुलसे प्राण।

४

पार करना है मुझे प्रिय,
गहन गह्वर, शिखर, सेन्द्रिय;
क्यों अभी से पूछते हो—
कि कब होऊँगा अतीन्द्रिय?
घोर विषयासक्ति मम है अनासक्ति-विधान;
पीतम, आज हुलसे प्राण।

५

तुम सरल, शुचि, कमल लोचन,
तुम सकल संकट विमोचन,
आज कर दो इस विधुर के—
भाल, कुंकुम-तिलक-रोचन;
दो पराजित को विजय का चिह्न, हे रसखान;
पीतम, आज हुलसे प्राण।

६

आ गए तुम यों झिझकते—
विरत जीवन में हिचकते;

अब बने रहना सदा यों,
हैं दिवस बीते सिसकते;
दीन की कुटिया करेगी कौन सा सम्मान ?
पीतम, आज हुलसे प्राण।

७

शाक्त मैं, तुम शक्ति मेरी,
भक्त मैं, तुम भक्ति मेरी,
नेह-योगी मैं, सजन, तुम—
प्रेममय अनुरक्ति मेरी;
गीत-कर्त्ता मैं, बने तुम मम प्रफुल्लित गान;
पीतम, आज हुलसे प्राण।

८

तुम अनलमय गान मेरे,
विश्व-विप्लव-ध्यान मेरे,
क्रान्तदर्शी मैं, सजन तुम,—
क्रान्तिमय भगवान मेरे;
क्रान्तिमय, विश्रान्तिमय तुम शान्ति-मूल सुजान;
पीतम, आज हुलसे प्राण;

× × × ×

बाँध लो परिरम्भ-रसरी में,—
सजन इस थकित जन को;
शिथिल बाँहों को बनालो—
ग्रीव-माला एक क्षण को,—

एक क्षण वह—जो चुनौती दे
युगान्तर के सृजन को,
अवधिहीन अशेष में हो शेष का अवसान !
पीतम, आज हुलसे प्राण ।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर
मई १९३६

ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल,
अपनी अंतर्हित पीड़ा को मत प्रकटा रे, तू यों पल-पल;
ढरक-ढरक मत गिर रे, दृग-जल ।

१

जाने कितने कृत-अकृतों की संचित हैं हियतल में स्मृतियाँ,
मन पर उभरी हैं कितनी ही असंक्रमित ये जीवन-सृतियाँ;
किन्तु आज अनुताप रूप धर, वे सब स्मरण बहें क्यों गल-गल ?
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

२

उभक-उभक उठते है हिय में इस जीवन के सब गत अवसर,
उद्वेलित कर ही देते हैं स्मरण-मीन मानव का मन-सर;
पर, ओ मानस के जल, मत बह नयन प्रणाली से तू छल-छल,
ढरक-ढरक मत, गिर, रे दृग-जल !

३

अरी आह, तू वाष्प बनी रह, तरल-नयन-जल मत बन, मत बन;
कौन लाभ होगा यदि भींगे मानव के लोचन ओ' तन-मन ?

गिरकर माटी में मिलने को होती है क्यों इतनी बेकल ?
 री क्यों बनती है तू दृग-जल !

४

क्यों अनुताप ? विषाद वृथा क्यों ? क्यों स्मरणों की खैंचा-तानी ?
समझ बूझकर भी, हे मानव, अब फिर यह कैसी नादानी ?
जाने दो यदि चले गए हैं वे दिन, प्रहर, निमिष वे चंचल ।
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

५

अच्छा होता, यदि यों होता !! पर, वह गत तो है अपुनर्भव,
गत यदि पुनरावर्त्ती होता, तो हो जाता जीवन नित नव,
किन्तु, नहीं हो सकता परिणत वर्त्तमान में लुप्त विगत कल !
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

६

जीवन भी है एक पहेली; जो बीता उसको जाने दे,
हो कटिबद्ध, भविष्य शेष है जो कुछ, तू उसको आने दे !
उसको ऐसा काट कि जिससे शीतल हो तव दग्ध हृदय-तल,
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

७

अपनी रहनी रह निर्मम-सा; अपना पथ पहचान, हठीले,
ललक लालसा से मत कर तू अपने लोचन गीले-गीले !
लुंज-पुंज तू रहा अब तलक, अब भर हिय में सार लौह-बल !
अब मत ढरका अपना दृग-जल !

८

है कर्त्तव्य कठोर, और है जीवन-पथ भी क्षुर-धारा-सा;
कर ले प्राप्त आज अपनापन, अब मत फिर मारा-मारा-सा;
रे नर, तू बन जा नारायण, मत हो कातर, मत हो विह्वल !!
मत ढरका तू अपना दृग-जल !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क ६ जनवरी, १६४४

ज्वर झाँक रहा है

मेरे नयनों से ज्वर झाँक रहा है, प्रियवर,
मन में उद्वेग अमित, तन में है ताप प्रखर।

१

मस्तक के स्नायु तन्तु तड़क रहे हैं रह-रह;
मानों कुछ जीव-जन्तु भड़क रहे हैं रह-रह;
कौन कहे "शुभाःसन्तु!" मम श्रवणों में अहरह?
निपट अनाश्रित हूँ मैं, हूँ एकाकी, हूँ बे घर।
मेरे नयनों से ज्वर झाँक रहा है, प्रियवर।

२

पड़ा हुआ हूँ मैं इस निर्जन में नीम तले;
अच्छा है! मेरा ज्वर किसी को न आज खले!!
ज्वराक्रान्त नयनों से यदि कुछ जल आज ढले—
तो भी अच्छा ही है! क्यों न झरें दृग झर-झर?
मेरे नयनों से ज्वर झाँक रहा है, प्रियवर।

३

यहाँ-वहाँ ढूँढ रहे तुम्हें अरुणमय लोचन;
जब-तब करते हैं ये उष्ण-उष्ण जल-मोचन;

नयनों में छाओगे कब तक तुम दृग-रोचन ?
पुतली पर कब होगी अंकित तव छटा छहर ?
मेरे नयनों से ज्वर झाँक रहा है, प्रियवर ।

४

श्रवणों में है सन-सन, प्राणों में है उलझन,
नस-नस में है झन-झन, तड़पी है मंजु लगन,
काँप रहा तन क्षण-क्षण, ज्यों कंपित वंजुल वन*
ताप अमित मम शिर पर कौन धरे शीतल कर ?
मेरे नयनों से ज्वर झाँक रहा है, प्रियवर ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १८ मई, १९४४

*वंजुल = बेंत । वंजुल वन = बेंत का वन ।

ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं

हम तो आठों याम, प्राणधन, ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं;
यों स्मृति-आवेशों में हम नित जिया करें हैं, मरा करें हैं।

१

स्मरण-फलक* बिन हम वियोग के शराघात कैसे सह जाते?
इनके बिन, बोलो तो, कैसे हम अपने मन की कह पाते?
यदि न स्मरण-अवलम्बन मिलता तो हम कब के ही बह जाते!
हम तो इसी तरी के बल, प्रिय, यह विछोह-नद तरा करें हैं!!
हम तो आठों याम, प्राणधन, ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं।

२

हम कल्पना-हिंडोले में, प्रिय, तव छवि दुलराया करते हैं;
मन-सर में लख तव मुख-अंबुज निज हिय हुलसाया करते हैं,
पुलक-पुलक तव आराधन के गायन हम गाया करते हैं;
यों ही, स्मरणों से, हम अपनी रीती घड़ियाँ भरा करें हैं;
हम तो आठों याम, प्राणधन, ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं।

३

कभी तुम्हारी स्मिति की सुधि है, कभी खीझ की, कभी झिझक की;
कभी पधारी विह्वल सुधि तव सर्वार्पण मय लोचन-टक की;

---

*फलक = ढाल।

यों कटते हैं दिन; कटती हैं यों ही रातें हम अपलक की;
यों स्मृति-तरु के सुमन-शूल ये यहाँ निरन्तर झरा करें हैं।
हम तो आठों याम, प्राणधन, ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं!

४

कभी स्मरण कुन्तल-चुंबन के, कभी प्रगाढ़ चरण-चुंबन के,
कभी रहसि संलाप मधुर के, कभी मदिर मधु परिरंभण के,
ये ही तो आधार बने हैं हम एकाकी विरही जन के;
अहो, इन्हीं से तो हम अपना नीरस जीवन हरा करें हैं;
हम तो आठों याम, प्राणधन, ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं।

५

स्मृति क्या है? प्रिय, स्मृति ही तो है केवल यहाँ, हमारी थाती!
यह न पास होती तो कब की टूक हो गई होती छाती!!
और कौन संबल? हाँ भूले-भटके आ जाती है पाती,
जिसको सौ-सौ बार बाँच कर दृग से मोती ढरा करें हैं!!!
हम तो आठों याम, प्राणधन, ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १४ फरवरी, १९४४

इतिश्री

आज इतिश्री हो जाने दो मेरी कसक-कहानी की;
अब विस्मृत हो जाने दो सब भूलें विगत जवानी की।

१

आवागमन लगा रहता है यहाँ अतिथियों का, भाई;
यह मन तो ढोता ही है नित बोझा स्मृतियों का, भाई;
पर मुझको क्यों उलझा रक्खे इन पहुँनों की पहुनाई?
यों, मैं गाता रहूँ कब तलक गाथा आनी-जानी की?
आज इतिश्री हो जाने दो मेरी कसक-कहानी की।

२

क्यों न निहारूँ मैं जगती में शोभा रुचिर सरसता की?
मैं क्यों चरचा करूँ दिवस-निशि, उनकी अतुल अरसता?
क्यों न करूँ मैं नियति-प्रकृति की मन मोहिनी दरस-झाँकी?
और अधिक कड़ियाँ क्यों जोड़ूँ मैं अपनी नादानी की?
आज इतिश्री हो जाने दो मेरी कसक-कहानी की।

३

जो पादप कल पर्णहीन थे, वे बन आए आज हरे;
लहर उठे हैं वे ही,—कल तक जिनके पीले पात झरे;

अपलक

जब जड़ता मय मरण विजित कर, ये चेतन के कण बिखरे,—
तब मैं क्यों न निहारूँ शोभा, अब इस अमर निशानी की?
आज इतिश्री हो जाने दो मेरी कसक-कहानी की।

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क १० अप्रैल, १९४३

४६ वें वर्षान्त के दिन

आज एक यह वर दो, प्रियतम, आज एक यह वर दो !
अपनी अलख-झलक-आभा से मम अन्तरतर भर दो !
प्रियतम, आज एक यह वर दो ।

१

वय-शृंखल में आज पड़ चुकीं छियालीस ये कड़ियाँ,
छियालीस तप-ऋतुएं बीतीं छियालीस ही झड़ियाँ;
किन्तु शून्यवत ही बीती हैं मेरी जीवन-घड़ियाँ;
अब तो तुम निज अंक, शून्य के वाम भाग में, धर दो !
प्रियतम, आज एक यह वर दो ।

२

क्या रोऊँ अब तक की अपनी असफलता की गाथा ?
उसके अमित भार से मेरा झुका हुआ है माथा ।
तुम से छुपा नहीं है मेरा लंबा-चौड़ा खाता;
बीत चले हैं मम जीवन के यो बेकार प्रहर दो !
प्रियतम, अब अन्तर तर भर दो ।

३

मार्गशीर्ष की ऐन पूर्णिमा को जीवन में आया,
किन्तु रही जीवन-भर मेरे सँग-सँग तम की छाया !

अब तो अरुणाभा फैला दो, हरो तमिश्रा - माया,
निज स्मयमान वदन - किरणों से तिमिर - निकन्दन कर दो,
प्रियतम, आज यही बस वर दो।

४

जब तुम विहँसोगे, बलि जाऊँ, मम रस छलक उठेगा।
बिन्दु-बिन्दु में बिम्ब तुम्हारा बरबस झलक उठेगा !!.
किन्तु, कहो, दिक-काल-आवरण यह कब तलक उठेगा ?
बहुत हुआ, इतना वय बीता, अब कुछ तो उत्तर दो !
प्रियतम, अब अन्तर तर भर दो।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क ८ दिसम्बर, १९४३

प्राणधन, मेरी कौन बिसात ?

मेरी कौन बिसात, प्राणधन, मेरी कौन बिसात ?
जिसको चाहो, उसे निबाहो, मन आए की बात;
प्राणधन, मेरी कौन बिसात ?

१

सभी सद्य रस चाहते; सभी नवल के मीत;
क्यों सुध लो तुम जब गए मेरे वे दिन बीत ?
आज, जब शिथिल हो चले गात,
प्राण, अब, मेरी कौन बिसात ?

२

भ्रमर उड़ चले डाल से, जब कुम्हलाए फूल,
मुझे मुरझता लख हुए तुम भी तो प्रतिकूल;
झटककर छुड़ा चले तुम हाथ,
प्राण, अब, मेरी कौन बिसात ?

३

क्या मैं पथ के गुल्म का कुछ ऐसा हूँ शूल ?
जो मुझसे तुम खींचते अपना विमल दुकूल ?
कहो तो यह कैसा आघात ?
किन्तु अब मेरी कौन बिसात ?

४

नीड़ बनाना चाहते थे तुम मेरी डाल,
पर, तब तो था मैं सरस, मैं था नवल रसाल;
झर चले अब तो मेरे पात,
प्राण, अब अपनी कौन बिसात ?

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क २७ मार्च १९४३

दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

दान का प्रतिदाम क्या, प्रिय ?
स्वयं को जब दे चुका, तब, प्रति ग्रहण का मान क्या, प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

१

नेह के इस हाट में मैंने न जाना भाव क्या है ?
भाव-तावों में पड़े जो, वह, सुरति का चाव क्या है ?
दाँव पर जब प्राण हैं, तब, शेष भी कुछ दाँव क्या है ?
जब कि दे डाला सभी कुछ, प्राप्ति का तब ध्यान क्या प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

२

मैं न मागूँगा कि मुझको, निठुर, तुम निज नेह दे दो,
मैं न मागूँगा कि मम मरु-प्राण को कुछ मेह दे दो;
मैं सतत अनिकेत क्यों माँगूँ कि तुम इक गेह दे दो;
तव उपेक्षा के गरल का कर न लूँगा पान क्या, प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

३

तुम न मेरे हो सको तब भी मुझे क्या शोच, प्रियतम ?
स्फटिक-हीरक में, कहो, कब आ सका है लोच, प्रियतम ?

तुम निभाओ निज निठुरता नित्य निःसंकोच, प्रियतम,
पर, निभाऊँ मैं न अपनी नित समर्पण आन क्या, प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

४

ये लखो, आकाश में चमके नखत अनगिनत, साजन,
यह लखो, मम नयन में चमकी लगन अति विनत, साजन,
और शिञ्जन कर उठीं तव गमन-उत्सुक चरण-पाँजन !
तुम न रुक कर सुन सकोगे गमन के कुछ गान क्या, प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर,
दिनाङ्क ४ मई, १९४८
लखनऊ से आने के उपरान्त
सन्ध्या समय

मेरी प्राण-प्रिये !

१

मेरी प्राण-प्रिये, सुनयने, मेरी प्राण-प्रिये !
बीत गया है एक वर्ष यह तुम्हें प्रयाण किये
सुनयने, मेरी प्राण-प्रिये !

२

कितना गहन व्यथार्णव मेरा, उसकी क्या कहिये ?
लहरा रहा अहर्निशि उर में हा-हा कार लिये
सुनयने, मेरी प्राण-प्रिये !

३

स्मरण-गगन में लख तव मुख-शशि किमि धीरज धरिये ?
हहरें क्यों न उदधि ? निज हिय में संयम किमि भरिये ?
सुनयने, मेरी प्राण-प्रिये !

४

नभ विहारिणी, अलख प्राण, निज जन की सुधि करिये।
हे अतीन्द्रिये, सेन्द्रियता से इतना क्यों डरिये ?
सुनयने, मेरी प्राण-प्रिये !

५

नेह भरे वे लोचन जिनने शत-शत दान दिये,
कहाँ गए वे, जिनसे मैंने मधुकरण अमित पिये ?
सुनयने, मेरी प्राण-प्रिये !

६

गजगामिनि मम मानिनि, निरखो लागी आग हिये
छार हो रहा सदन तुम्हारा, यह विपदा लखिये,
सुनयने मेरी प्राण-प्रिये !

रेलपथ—दिल्ली से कानपुर
दिनाङ्क १३ मार्च १९४९

तुमने कौन व्यथा न सही है ?

मेरे कारण, प्रियतम, तुमने कौन व्यथा है, जो न सही है ?
ऐसी कौन वेदना है जो हठ कर तुमसे दूर रही है ?

१

देकर मुझे नेह निज तुमने विपदाएँ आमन्त्रित कर लीं,
तुमने निज सुकुमार हृदय में यों ज्वलन्त ज्वालाएँ भर लीं !
बुझीं न वे रंजित ज्वालाएँ, जदपि अमित दृग धारें ढर लीं,
हा जीवन, तव चिता-वह्नि बन उमड़ी जो, वह ज्वाल वही है !
मेरे कारण, प्रियतम, तुमने कौन व्यथा है जो न सही है ?

२

हे मेरे तुम अमल प्राणधन, अहो असह्य तितिक्षा-साधक,
जग के निन्दक जन न बन सके तव नव-नेह पन्थ के बाधक !
तुम मेरे आराध्य बने; मैं बना तुम्हारा लघु आराधक,
हे मेरे अप्रतिम, तुम्हारी प्रतिमा जग में आज नहीं है;
मेरे कारण, प्रियतम, तुमने कौन व्यथा है जो न सही है ?

३

संचित सरस पुण्य-फल सम तुम मम जीवन में आन पधारे,
फिर वैरागी सम तम सहसा तज यह अपना गेह सिधारे;

जितने दिन तुम रहे, सहे नित उतने दिन ये संकट सारे,
"कठिन नेह को मारग—" जग के अनुभव ने सच बात कही है !
तुमने मेरे कारण, प्रियतम, कौन व्यथा है जो न सही है ?

४

जो, जीवन-प्रसून अञ्जलि में लेकर चले निवेदित करने,
और, चले जो तुम सम प्रिय की प्रतिमा मन-मन्दिर में धरने,
उनके मग में फूल खिले कब ? उन्हें कब मिले शीतल झरने ?
उनके जीवन-मारग में तो नित प्रतिकूल बयार बही है !
तुमने मेरे कारण, प्रियतम, कौन व्यथा है जो न सही है ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर,
दिनाङ्क २६-६-४७

ओ चिरन्तन ध्यान मेरे

अब कहाँ पाऊँ तुम्हें मैं, कुछ कहो तो प्राण मेरे?
किस सघन पट में दुरे हो, ओ चिरन्तन ध्यान मेरे?
कुछ कहो तो प्राण मेरे?

१

जानते हो क्या कि कितना शून्य है अस्तित्व तुम बिन?
जानते हो क्या कि कैसे बीतते हैं शून्य ये छिन?
आह के हिण्डोल में हैं झूलते तव स्मरण निशि-दिन,
अकथनीया है बिथा मम, ओ स्मरण-अभिमान मेरे!
ओ चिरन्तन ध्यान मेरे!

२

हो कहाँ? अथवा हुए हो विश्व से ही तुम तिरोहित?
नित्यता है क्या मनुज की भावना अज्ञान-मोहित?
कर सकी है क्षार तुमको क्या चिता की ज्वाल लोहित?
हाय! तो, तड़पा रही है वेदना क्यों प्राण मेरे?
ओ स्मरण अभिमान मेरे!

३

मान लूँ कैसे कि उतना वह समर्पण था क्षणिक ही?
मान लूँ कैसे कि है यह काल बस वंचक वणिक ही?

चेतना उच्छ्‌वास है क्या विश्व में केवल तनिक ही?
क्या निरर्थक हैं, कहो तो, ये 'न-इति' के गान मेरे?
ओ चिरन्तन ध्यान मेरे!

४

उस तुम्हारे मधुर मुख की जो बलाएँ हुलसती थीं,
रुचिर सुषमाएँ अगणिता जो कि तुमने दान दी थीं,
और वे रस-सिक्त बतियाँ जो समुद तुमने कही थीं,
क्या हुई हैं लुप्त वे? क्या मर्त्य हैं प्रणिधान मेरे?
कुछ कहो तो प्राण मेरे!

५

आज तो तुम वेदना बन रम गए हो व्यथित मन में,
और कंपन बन रमे हो, प्राण, मम संतप्त तन में,
गूँजती है तव सकरुणा स्नेह वाणी मम श्रवण में;
और उन्मादी हुए हैं सकल तत्त्व-विधान मेरे;
ओ स्मरण-अभिमान मेरे!

६

अमित जीवन-पुण्य-फल सम, तुम अतुल वरदान के सम,
मम अचेतन रज-कणों में तुम चिरन्तन प्राण के सम,
जब मिले, तब मिट गया था विकलता का सतत भ्रम मम;
किन्तु अब? अब क्या बताऊँ ओ रुचिर रसखान, मेरे?
तुम चिरन्तन ध्यान मेरे!

श्री गणेश कुटीर, प्रताप,
कानपुर, दिनाङ्क ११-२-४२

श्रान्त

अब तो बहुत थक गये प्राण,

इधर-उधर, नित, न कुछ खोजते फिरते बहुत हुए हैरान;

अब तो बहुत थक गये प्राण।

१

पाँव थके, हिय थका, जिय थका, लोचन थके, थके अङ्ग-अङ्ग,

आशा थकी, प्रतीक्षा हारी, थकी कल्पना, थकी उड़ान,

हम तो बहुत थक गये, प्राण।

२

अन्वेषण मय, अष्टयाम की परिक्रमा है श्रान्त नितान्त,

दरसन-प्यास बढ़ी अधिकाधिक ज्यों-ज्यों बढ़ती गई थकान,

हम तो बहुत थक गये, प्राण।

३

नीरस, अति निष्फल, यह जीवन, हृदय रिक्त, मन निपट अशान्त,

केवल व्यर्थ प्रयोगों में ही बीते जीवन क्षण सुनसान

अब तो बहुत थक गये प्राण।

४

गत जीवन पर डाल रहे हैं, अपनी थकित दृष्टि बिन काज,
क्या से क्या हो जाते यदि हम यूं से यूं चलते अनजान,
अब तो बहुत थक गये प्राण।

५

गत कृत अभ्यासों के बन्धन हुए बहुत ही सुदृढ़, बलिष्ठ,
पीतम, कठिन दीख पड़ता है इस गति से पाना निर्वाण,
अब तो बहुत थक गये प्राण।

६

खेल-खेल में तुम मनमौजी, यदि हमको दो झटका एक,
तो बस, उस इक टल्ले से ही हो जाये जीवन कल्याण,
अब तो बहुत थक गये प्राण।

भिखारी

प्रिय मेरा हिय सतत भिखारी,
भर दो इसकी नयन झोलियाँ, हे मेरे मन-गगन विहारी,
प्रिय मेरा हिय सतत भिखारी।

१

निःश्वासों के कन्धों पर यह डाले निज लोचन की झोली,
एक-एक धड़कन के मिस नित अलख जगाता बारी-बारी,
प्रिय मेरा हिय सतत भिखारी।

२

धड़क-धड़क निधड़क यह भटका दर-दर दरस-दान पाने को,
पर न अभी तक भर पाई हैं इसकी ये झोलियाँ बिचारी,
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी।

३

अपनी अलख-झलक झाँकी से, तुम झिल-मिल कर दो अन्तर तर,
इन रीते भिक्षा-पात्रों को भर-भर दो हे रस संचारी,
प्रिय मेरा हिय सतत भिखारी।

४

पीतम, श्याम, नयन धन, बिछुड़न के दिन से हिय मचल गया है,
तुम्हीं कहो, क्या जतन करूँ? यह हृदय सदा का है अविचारी,
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी।

कुहू की बात

चार दिन की चाँदनी थी, फिर अँधेरी रात है अब.
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहू की बात है अब ।

१

चाँदनी मेरे जगत की भ्रान्ति की है एक माया,
रश्मि-रेखा तो अथिर है, नित्य है घन तिमिर छाया,
ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पास आया;
रात है मेरी, सजनि, इस भाल में नव प्रात है कब ?
फिर अँधेरी रात है अब ।

२

इस असीमाकाश में भी लहरता है तिमिर-सागर,
कौन कहता है : गगन का वक्ष है अह-निशि उजागर ?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्धतम का ही यहाँ उत्पात है सब;
फिर अँधेरी रात है अब ।

३

मैं अँधेरे देश का हूँ चिर प्रवासी, सतत चिन्तित,
हृदय विभ्रम-जनित आकुल अश्रु से मम पन्थ सिञ्चित;

अपलक

ओ प्रकाश-विकास, नव-नव रश्मि-हास-विलास-रंजित,
मत चमकना अब, निराश्रित हूँ शिथिल-से गात हैं अब,
फिर अँधेरी रात है अब।

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर
दिनाङ्क ७ मई १९२९

बस-बस, अब न मथो यह जीवन

बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन,
इन इन्द्रिय-मन्थन दण्डों का और न अधिक करो उत्पीड़न,
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

१

ज्यों-ज्यों मथा गया जीवन-रस त्यों-त्यों और ज़ोर से उफना,
मन्थन के दाएँ-बाएँ इन गबाटों में उलझा लघु मन,
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

२

सोचा था यह सतत मथन-गति शायद कर दे जीवन सम-रस,
पर, प्रति गति ने अन्तस्तल को किया और भी झन-झन उन्मन ।
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

३

सच कहता हूँ कि आ गया हूँ आजिज़ इस निहङ्ग हाथी से,
लौटा दो मुझको मेरा वह छोटा-सा अंकुश मद-भञ्जन,
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

४

मदोन्मत्त मातङ्ग-शृङ्ग पर मुझे चढ़ाया खाली हाथों,
अब ताली दे क्यों बिखरते हो निज अट्टहास-मुक्ता-कण ?
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

५

प्रिय, मेरी वेदना, व्यथा को अरे तनिक तो तुम अवलोको,
यह पागल गज ! यह जीवन नद !! यह घन घटाटोप !!! यह गर्जन !!!!
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

६

क्या द्विजन्म-सिद्धान्त भ्रान्त है ? क्या यह है कोरा भ्रम ही भ्रम ?
यदि सच है तो मम द्विजन्म का घंटा क्यों न बजे घन-घन-घन ?
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

७

मुझे बहुत ही मन भाती है संयत, निर्धारित पगडण्डी,
अब तो भ्रमित-मथित मत होने दो हे मेरे मानी मन-धन !
बस ! बस !! अब न मथो यह जीवन ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर,
दिनाङ्क ८-१-४०
(अग्नि दीक्षा-काल)

समा गई मादकता मन में !

समा गई मादकता मन में,
इस रीते अस्तित्व-कुम्भ से उफन उठे नव-नव रस क्षण में,
समा गई मादकता मन में।

१

जिस दिन सघन नील अम्बर में,
सन्ध्या के एकान्त प्रहर में,
अस्ताचल गामी दिनकर ने
भेजीं निज किरणें रँग भरने,
पड़े उसी दिन रङ्ग-बिरङ्गे डोरे मेरे विनत नयन में;
समा गई मादकता मन में।

२

जब मैंने दिङ्मण्डल देखा,
देखी जब सतरङ्गी रेखा,
वायुयान पर चढ़े मेघगण
देखे आते-जाते जिस क्षण,
उस दिन से ही मदिर मधुरता दीख पड़ी रज के कण-कण में;
समा गई मादकता मन में।

३

बदन मलिन, तन छीन हो चला,
मैं नवीन प्राचीन हो चला,
फिर भी हिय में है इक उलझन,
कुछ लहराती-सी, कुछ उन्मन;
एक अजब गन्नाटा-सा है इस हस्ती के अपनेपन में,
समा गई मादकता मन में।

४

इस मदिरा के गन्नाटे में,
बैठ विजन के सन्नाटे में,
अपने चित्र बनाता हूँ मैं,
जन का मन बहलाता हूँ मैं,
जग के बीहड़ विजन देश को परिणत करता हूँ उपवन में;
समा गई मादकता मन में।

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर, अपराह्न,
दिनाङ्क २३-३-४०
होलिकोत्सव

तुम बिन सूना होगा जीवन

तुम बिन सूना होगा जीवन,
प्रियतम ! ऐसे बोल न बोलो, कि तुम चलोगे उन्मन,
तुम बिन सूना होगा जीवन ।

१

कई युगों से सन्तत, विचलित, मेरा नशाकाश,—
दिशा-शून्य, उडु-रहित, तमोमय, घूर्णित, व्यथित, निराश,
सहसा तव बालारुण श्रीमुख, पाकर है कृत-कृत्य,
खोई-सी सब दिग्बालाएं आज कर रहीं नृत्य,
आनन्दित है निखिल वनश्री, हुलसे मेरे कण-कण,
असमय क्यों प्रयाण का चिन्तन ?

२

प्राची को पश्चिम करने की, क्यों यह मन में ठानी ?
ऊषा को सन्ध्या करने की यह कैसी मन-मानी ?
उदयाचल अस्ताचल में मन परिवर्त्तित कर डालो,
कुछ क्षण तो मेरे सुहाग का कुंकुम तनिक सँभालो !
बड़ी कठिनता से पाए हैं प्रिय ! तव दुर्लभ दर्शन,
तुम बिन सूना होगा जीवन ।

३

चल देने की बात न बोलो, ओ मेरे वैरागी !
यदि यह सपना भी हो तो भी, मत तोड़ो हे त्यागी;
जब जग हेत्वाभास-मात्र है, तब फिर मेरा सपना—
क्यों न रहे मेरे जीवन में होकर मेरा अपना ?
इतना जानूँ हूँ कि तुम्हीं हो मेरे सत्य चिरन्तन ;
तुम बिन सूना होगा जीवन ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर }

मग में

१

हम चले जा रहे हैं मग में,
अपने सर पर इक भार लिये,
अरमानों का अम्बार लिये,
हम ग्रीव झुकाये चलते हैं
दृग में मूरत साकार लिये;
कम्पित पग धरते जाते हैं, इस ऊबड़-खाबड़ मारग में,
हम चले जा रहे हैं मग में।

२

है सरमाया कुछ पास नहीं,
आश्रय की कोई आस नहीं,
सर पर है साया आसमान,
याँ साधन का आभास नहीं;
हम शिथिल-चरण, हम विरथ पथिक, हम आ पहुँचे हैं इस जग में;
हम चले जा रहे हैं मग में।

३

है नहीं कारवाँ साथ यहाँ,
फिर कौन बँटावे हाथ यहाँ?

हम एकाकी ही सहते हैं—
कब से पथ के आघात यहाँ!
जर्जर शरीर की लाचारी अब प्रकट रही है डग-डग में;
हम चले जा रहे हैं मग में।

४

निष्ठा-लकुटी ही साथिन है,
मंज़िल लम्बी, ढलता दिन है;
परवाह नहीं; यदि पन्थ आज—
सूना-सूना साथी बिन है;
हमको यक़ीन है आयेगी फिर से फुर्ती सब रग-रग में;
हम चले जा रहे हैं मग में।

५

गर तुम देते निज पता बता,
तो भी होती हम से न ख़ता;
हम तो यों ही चलते जाते—
इस पथ पर, जग को बता धता!
हाँ उससे इतना हो जाता : आती न थकावट पग-पग में;
फिर भी हम चलते हैं मग में।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क ८-१०-३८

मेरे चाँद

ओ, मेरे पुलक प्रान,
आओ, ढिग बैठ रहो, सुन लो यह विकल गान,
ओ, मेरे पुलक प्रान !

१

जीवन-घन-अंधकार; आए तुम प्रथम किरन,
आकुल इन नयनों के, तुम मेरे चाँद सजन,
नेह-मगन यौवन की, तुम मम-मन-हरन-लगन,
परम-अगम बने रहो, ओ मेरे भासमान,
तुम, मेरे पुलक प्रान ।

२

इतना परपंची हूँ : फैलाया जगत-जाल,
तव अर्चन-हित न गूँथ पाया हूँ गीत-माल;
यों ही एकाध लड़ी गूँथी है लाल-लाल—
उलझा लो इसको निज श्रवणों में तुम, सुजान,
ओ, मेरे पुलक प्रान !

३

अँधियाले में उड़-उड़, शून्य-गगन बीच टोह—
ज्यों ही, कुछ श्रान्त हुई, नव-नव पथ जोह-जोह,
ज्यों ही हो चला सतत, अति असह्य तव बिछोह
त्यों ही, तुम खूब हुए प्रकट चमक-मूर्त्तिमान;
ओ, मेरे पुलक प्रान!

रेल-पथ, कानपुर से उज्जैन,
दिनाङ्क १ मई १९३९

स्वप्न मम बन आये साकार

स्वप्न मम बन आये साकार,
इतने बरसों के चिन्तन से प्रकटे पिय, हिय-हार,
स्वप्न मम बन आये साकार।

१

जो मम जीवन के मृदु सपने,
खूब हुए तुम मेरे अपने,
मन के कल्पित चित्र, आज तुम बोल उठे इस बार!
स्वप्न मम बन आये साकार।

२

सपने की सब दुनिया मेरी,
मूर्त्तिमती हो गई घनेरी,
बहुत दिनों में मिट पाई है, स्वप्न-जागरण-रार;
स्वप्न मम बन आये साकार।

३

अब न मुझे पावस का डर प्रिय,
अब क्यों काँपेगा निशि में हिय?

तुम्हें गोद में ले उमड़ेगा, मेरा पारावार;
स्वप्न मम बन आये साकार।

४

एक कल्पना थी धुँधली-सी,
फिर वह बनी एक पुतली-सी,
पर अब? अब तो सुन ली मैंने नूपुर की झंकार;
स्वप्न मम बन आये साकार।

५

जलद-यान से उतरे साजन,
रह-रह मुसकाते-से क्षण-क्षण,
मैं अवाक्, वे मौन खड़े थे, नयनों में भर प्यार;
स्वप्न मम बन आये साकार।

६

जब द्वारे आ गये, सलौने,
खिले कुटी के कोने-कोने;
हुलसे प्राण, कँपा हिय, बह-बह आई लोचन-धार;
स्वप्न मम बन आये साकार।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर
मध्याह्न, दिनाङ्क २०-४-३६

वरं देहि

आज, अव्यभिचारिणी निज भक्ति का वरदान दो तो,
नित अपार्थिव, अति अकायिक स्नेह का स्मर-दान दो तो।

१

प्राण, कौन अभाव है, तव लोचनों के अतल तल में?
कौनसी निधियाँ नहीं हैं तव करुण सुकुमार पल में?
है सभी कुछ तो तुम्हारे गहन, स्वप्निल, दृग अमल में,
किन्तु, फिर भी अन्य-रति-रत हूँ, मुझे पहचान लो तो,
आज, अव्यभिचारिणी निज भक्ति का वरदान दो तो।

२

दूर कर दो, सजन, अन्योपासना का चाव मेरा;
सुदृढ़, सुस्थिर तुम बना दो निपट चंचल भाव मेरा;
आज वर दो: तव पदों में हो अनन्य झुकाव मेरा;
प्रिय, तनिक स्वीकार-सूचक निज मधुर मुसकान दो तो;
आज अव्यभिचारिणी निज भक्ति का वरदान दो तो।

३

घुमड़ जब-जब मेघ आए, उमड़ तब-तब राग आया,
बिज्जु क्या चमकी कि हिय-उन्माद मेरा जाग आया,

मेघ गर्जन, शृङ्खला-खण्डन-निरत सन्देश लाया,
आज इस ऋतु रार में, प्रिय, मम विनय पर कान दो तो;
सजन, अव्यभिचारिणी निज भक्ति का वरदान दो तो।

४

प्राण, क्या सीमा रहित है मुझ ससीमित की रवानी?
और कितने पर्व में सम्पूर्ण होगी यह कहानी?
बहुत सुन ली हैं इसे तुमने, सजन मेरी ज़बानी,
ख़त्म कर दो खेल यह, अब बात मेरी मान लो तो;
आज अव्यभिचारिणी निज भक्ति का वरदान दो तो।

श्री गणेश कुटीर, प्रताप,
कानपुर,
दिनाङ्क ६-८-३६

मेरी यह सतत टेर

मेरी आकुल पुकार, मेरी यह सतत टेर,
यह मेरी कासि-हूक, विफल हुई बेर-बेर।

१

पूछा : तुम कहाँ छिपे? प्रश्न रहा अनुत्तरित,
अम्बर से टकरा कर अनुध्वनि आ गई त्वरित;
अहनिशि ही धड़क रहा मेरा हिय प्रश्न-भरित;
कुछ तो बोलो मेरे मौनी अब हुई देर,
यह मेरी कासि-हूक विफल हुई बेर-बेर।

२

इतना घन अन्तरपट डाले तुम चल देना—
यह किसने कहा तुम्हें कि तुम अब न सुध लेना?
इतनी निष्ठुर कब थीं तुम, ओ मेरी मैना?
दृग-ओझल होते ही यह कैसा हेर-फेर?
बोलो, हो रही बिफल क्यों मेरी सतत टेर?

३

कहाँ मिलेगा वह सुख जिसकी स्मृति में मम मन—
उलझा, उद्भ्रान्त, अथिर रहता उन्मन क्षण-क्षण?

रूप अपार्थिव धर तुम विचर रहे हो, जीवन,
पार्थिवता-पाश मुझे बाँधे है घेर-घेर,
मेरी यह सतत टेर विफल हुई बेर-बेर।

४

जीवन में जो कुछ था अति पुनीत, अति पावन,
वह सब तो त्वम्-मय था, ओ मेरे मन भावन,
तुम बिन अब जीवन है अति नीरस सिकता-वन;
किसे स्निग्ध स्नेह मिला बालू को पेर-पेर?
मेरी आकुल पुकार विफल हुई बेर-बेर।

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर,
रोग-काल
दिनाङ्क २०-१२-४६

कौन सा यह राग जागा ?

कौन सी यह प्रीति जागी ? कौन सा यह राग जागा ?
कौन से ये स्मरण जागे ? कौन उलटा भाग जागा ?

१

कौन कहता है कि बाहर से लहरते आ गये स्वर ?
करुण मेरे गीत ही हैं भर रहे पाताल अम्बर;
पर मुझे ये लग रहे हैं अपरिचित-से किन्तु, मनहर,
हाय, अपनों को पराया कर रहा हूँ मैं अभागा;
कौन सा यह राग जागा ?

२

हलचलों के बीच भी वाणी रही मेरी अकम्पित—
और विप्लव भी न कर पाए सुघड़ मम गीत खण्डित—
साध थी यह, किन्तु देखा कण्ठ है आक्रोश-मण्डित;
और मैं बस रो रहा हूँ हिचकियों के राग गा-गा;
कौन उलटा भाग जागा ?

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क २७-८-३१

प्रियतम, तव तम-हर चरणों में

प्रियतम, तव तम-हर चरणों में—
जीवन-सलिल ढरे, तब भय क्या, शत मरणावरणों में ?
प्रियतम, तव तम-हर चरणों में ।

१

संशय के, आशंकाओं के अनगिनती दल बादल—
फैला चुके स्मरण-अम्बर में अन्धकार का काजल;
लहराई दिग्भ्रान्ति तिमिरजा स्रोतस्विनी कराली,
होने चली विपथगा हिय की भक्ति अनन्य मराली;
आया अनिल, भर गया कम्पन तट के हरित तृणों में;
विचलित हम नत तव चरणों में ।

२

तिमिर पूर्ण अस्तित्व-निशा लख क्यों उलझें सम्भ्रम में ?
जब तव पद-नख किरणें सन्तत विहर रही हैं तम में !
यदि न सूक्ष्म दर्शन सम्भव हो, यदि लोचन थक हारें,
तब भी क्यों न ज्योति-दर्शन हित हम निज जीवन वारें ?
यामा निखरेगी न कभी क्या ऊषः काल क्षणों में ?
प्रिय तम, तव तम-हर चरणों में ।

३

एक सूक्ष्म आलोक झलक, इक झिलमिल अरुणिम रेखा—
अंकित हुई क्षितिज में, यह भी कौतुक हमने देखा;
पर तिमिराभ्यासी आँखों ने मींचे संपुट अपने,
और देखकर भी न देख वे सकीं ज्योति के सपने;
पर मीलित-दृग खोल घुलीं तव किरणें रक्त-कणों में;
प्रियतम, तव तम-हर चरणों में।

४

अपना हृदय-स्पन्दन, अपना मोह, छोह यह अपना,
क्यों न व्यक्त कर दें अनबोले? तोड़ें जीवन-सपना?
सर्वार्पण करने वालों ने मोल-तोल कब जाना?
प्रतिफल की इस उत्सुकता को उनने कब पहचाना?
मौन निवेदन ही होता है अहनिशि प्राण-पणों में;
प्रियतम के तम-हर चरणों में।

५

जीवन भर की आत्म-निवेदन-बान आज यदि छूटे,
तो चिर मंगल मूल त्याग की रज्जु क्यों न फिर टूटे?
अरे, समुद अर्पण ही अर्पण चिर जीवन का क्रम है;
और ग्रहण में मरण निहित है, प्रति फल केवल भ्रम है;
'भुञ्जीथा: त्यक्तेन' सुन पड़ा यह सँदेश श्रवणों में;
प्रियतम के तम-हर चरणों में।

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर,
दिनाङ्क २१ दिसम्बर १९४१

सुन लो, प्रिय, मधुर गान

हुए बहुत दिन अब तो सुन लो, प्रिय, मधुर गान,
आत्म-निवेदन हित हैं आकुल मम निरत प्राण।

१

नेह भरित मेघ सदृश मँडराता अभिव्यञ्जन,
सघन वारि-धारा सम स्वर सिहरे मन-रञ्जन,
दामिनी दिवानी-सी रागिणी छिड़ी क्षण-क्षण,
पावस का स्नान करो इस निदाघ में, सुजान,
सुन लो, प्रिय, मधुर गान।

२

मेरे क्या स्वर, पीतम, मेरे क्या सजल गीत?
इसी तरह जगा लिया करता हूँ स्मृति अतीत;
दीर्घ मौन-आश्रय ने किया मुझे भीति-भीत;
इसीलिए आज छेड़ बैठा हूँ सुरत-तान;
सुन लो, प्रिय, मधुर गान।

३

स्वर क्या है? क्या केवल भौतिकता का प्रसार?
क्या केवल श्रवणागत वायु का तरङ्ग-भार?

ध्वनि, लय, स्वर, शब्दों का यह निर्णय है असार !
मेरी स्वर लहरी है प्राणों की इक उड़ान;
सुन लो, प्रिय, मधुर गान ।

४

हृदय-सिन्धु मन्थन का घोष गान है मेरा,
स्वर-समूह पीतम का मुखर ध्यान है मेरा;
नव मम ध्वनि-ज्ञान; नवल आसमान है मेरा,
अपना है अलग विश्व; है अपना नव-विधान;
सुन लो, प्रिय, मधुर गान ।

५

कौन गीत गाऊँ मैं ? कहिये, सरकार, ज़रा ?
हँसकर हरिये तो मम गहन मौन-भार ज़रा;
गुनगुनाइए अश्रुत स्वरित राग प्यार भरा,
मूक गीत-गायक यह माँग रहा तान-दान
सुनिये, प्रिय, मधुर गान ।

६

कब से आ बैठे हो, बोलो तो, हृदय बीच ?
कब से तुम खेल रहे मेरे दृग मींच-मींच ?
भागो हो जब-जब मैं लाता हूँ तुम्हें खींच,
ऐसा क्या खेल, अजी, यह भी क्या खूब मान ?
सुन लो, प्रिय, मधुर गान ।

७

सिहर, सिहर उठता है स्पर्श-स्मृति से शरीर;
रोम-रोम मेरे, प्रिय, हो उठते हैं अधीर;

त्वम-मय मम वाङ्मय हैं; तन्मय मम दरश-पीर;
क्षीर-नीर एक रूप; तुम-मैं अब एक प्राण,
सुन लो, प्रिय, मधुर गान।

८

आवाहन के प्रसून कब के कुम्हलाए हैं,
दृग-नभ में आर्त्ति-मेघ उमड़-घुमड़ छाए हैं,
ये मम आजानु बाहु, देखो, अकुलाए हैं;
वक्षस्थल पर शिर धर, बँध जाओ गुण-निधान;
सुन लो, प्रिय, मधुर गान।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क ३-४ मई १९३७

थकित

थक कर बैठे हम कौन यहाँ ?

१

दृग धारा से पथ पङ्किल कर,
कब से निकले हम मञ्जिल पर ?
अब बीत रही है क्या दिल पर ?
जो शिथिल चरण, नैराश्य भरे, हम हुए अचानक मौन यहाँ;
थक कर बैठे हम कौन यहाँ !

२

कब पहना मुसाफ़िरी बाना ?
हमने न अभी तक यह जाना,
अपने को एक पथिक माना,
मग चलने की धुन रही; और सब अन्य लालसा गौण यहाँ;
थक कर बैठे हम कौन यहाँ ?

३

हम लगन-बटोही, टोह लीन,
हम पथिक पुरातन, चिर नवीन,
क्यों आज बनें हम थकित दीन ?

सायुज्य याञ्चा

मुझमें घुलो आन,
तुम हे, मृदुल प्राण;
मम याचना का करो रंच सम्मान,
मुझमें घुलो आन।

१

आई कहाँ से स्वनित वेणु की टेर,
संश्लथ हुए गात्र, लोचन रहे हेर,
बाँधा तुम्हारे स्वरों ने मुझे घेर,
तुम हो कहाँ ? शीघ्र आओ, हुई देर,
सन्ध्या हुई, हो चला पन्थ सुनसान,
मुझमें घुलो आन, तुम हे, मृदुल प्राण।

२

तुमको बुलाया, भुला योग औ क्षेम,
पर क्या नहीं निभ सका नेह का नेम ?
कैसे तुम्हें मैं पुकारूँ कहो, प्रेम,
जिससे इधर तुम ढुलो आज बे टेम ?
अति काल आया, हुआ पूर्ण दिन-मान;
अब तो घुलो आन, तुम हे, मृदुल प्राण।

३

कई ये शिशिर और हेमन्त बीते,
रहे प्राण अब तक वियोगी, पिरोते
पड़ा रिक्त हिय, हम मरे हैं न जीते,
सुना है भरो हो तुम्हीं पात्र रीते;
बैठो हिये, मैं सुनाऊँ तुम्हें गान,
मुझमें घुलो आन, तुम, हे मृदुल प्राण।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर,
रात्रि, १२ बजे
दिनाङ्क ३-१०-३८

फिर वही

एक सूनी-सी दिशा से सुन पड़ा कुछ ललित मृद स्वर,
थी किसी की कण्ठ-ध्वनि वह; था किसी का गान मनहर।

१

कण्ठ स्वर के संग ही कुछ मींड़-मय झंकार आई,
गान-गंगा में मुदित मन-वीणा-यमुना-धार धाई,
कुछ सुपरिचित-सा लगा वह कण्ठ-गायन भार-वाही,
थी किसी कर की सुपरिचित अँगुलियों से वीण थर-थर;
सुन पड़ा कुछ हिय हरण स्वर।

२

मुड़ गई ग्रीवा इधर को, खिंच गए लोचन बिचारे,
किन्तु, उस सूनी दिशा को देख हारे दृग हमारे;
विफल अन्वेषण-उदधि में तैर उड्डे नयन-तारे;
शून्य में दृग-किरन बिखरी, झर उठे अरमान झरझर;
सुन पड़ा जब हिय-हरण स्वर।

३

ओ अनिश्चित-सी दिशा से उद्गता तू गान-धारा,
क्यों समाई है श्रवण में? विकल है यह हिय विचारा;

सुरत स्मृतियों का जगा यह आज फिर संसार सारा;
देखना क्या बीतती है अब हमारे प्राण-मन पर,
सुन पड़ा है जब मृदुल स्वर।

४

हम कभी का ले चुके थे छन्द-स्वर-सन्यास मन में,
हम विरागी बन चुके थे, मल चुके थे भस्म तन में,
किन्तु गायन-धार, तूने धो दिया वैराग्य क्षण में,
हो गए फिर से वही हम एक मजनूँ घूम-फिर कर,
सुन पड़ा जब हिय-हरण स्वर।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क ६-१०-३८
रात्रि ११-४९

क्या न सुनोगे विनय हमारी

क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
हुये दग्ध दोनों कर, प्रियवर ! पूर्ण हुई इक अदा तुम्हारी;
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?

१

हमें भान है इस जीवन में अपने कृत शत-शत पापों का,
इसी दाह मिस तुम से क्या, प्रभु, चेतावनी मिली है भारी ?
अब तो सुन लो विनय हमारी ।

२

जीवन के संयम के सपने, अब तो मूर्त रूप कर दो तुम,
जिससे हो जाए विदग्ध यह उच्छृङ्खल जीवन अविचारी;
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?

३

तुम जानो हो, अकथ वेदना के झूले में झूले हैं हम,
इतना तो प्रसाद दो जिससे मिट जाये जीवन-अंधियारी;
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?

४

ज्ञान, विराग, जोग से सूना यह अस्तित्व रहा है अब तक,
पर अब तो गुण-बन्धन डालो, जीवन में, हे अलख मुरारी !
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?

५

यही जनम की साध है कि तुम कर दो संयत शोणित-ताण्डव,
इस विकराल रास-रत-गति से हम हारे, चेतनता हारी;
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?

६

यदि यह सब संभव न हो सके, तो मिच जाने दो ये आँखें,
इस अनुताप ताप में हे प्रिय ! अब क्यों झुलसे जीवन-क्यारी ?
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?

श्रीगणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क २१ दिसम्बर १९३९
अग्नि दीक्षा काल

उड़ गए तुम निमिष भर में

उड़ गए तुम निमिष भर में, रह गई अनिमेष दृग-टक,
रह गए लीला तुम्हारी निरखते सब लोग अपलक।

१

तुम चले; उमड़ा इधर इन दृग-पुटों में अमित पानी,
खो गई सुधि, जब हृदय ने उत्क्रमण की बात जानी;
'सन्तु पन्थान: शुभास्ते'—कह सकी यह भी न वाणी;
तोड़ कर सब बंध तुम तो चल दिये इतने अचानक!
उड़ गये तुम निमिष भर में, रह गई अनिमेष दृग-टक!

२

पूछता हूँ: आज किसने पींजरे का द्वार खोला?
तोड़ रे, दिक्-काल-बन्धन, आ उड़ें', यों कौन बोला?
उड़ चले किसके कहे तुम छोड़ पिंजर रूप चोला?
और, अब आकर मिलोगे क्या अचानक? और कब तक?
उड़ गए तुम निमिष भर में, रह गई अनिमेष दृग-टक!

३

उस क्षणिक संयोग की अब उठ रहीं स्मृतियाँ हृदय में;
छा रही हैं आज शत-शत स्मरण-आवृतियाँ हृदय में;

तुम्हीं तुम हो आज तो सब ओर जीवन के निलय में;
बन अपार्थिव, आज तुम तो, छा गए सब ओर औचक !
उड़ गए, तुम निमिष भर में, रह गई अनिमेष दृग-टक !

४

कहाँ-कहाँ तुम्हें न देखूँ ? साँझ में तुम, प्रात में तुम,
शरद् में, हेमन्त में तुम, ग्रीष्म में, बरसात में तुम;
वर्ष में तुम, मास में तुम, दिवस में तुम, रात में तुम;
कौन कहता है कि तुमको कर चुका है भस्म पावक ?
आज तो मैं लख रहा हूँ तव छटा सब ओर अपलक !

५

विहँसते हो तुम क्षितिज में; विचरते हो गगन में तुम;
मम श्रवण में, प्राण में तुम; छा रहे हो नयन में तुम;
क्या उड़े हो बाँध मम मन निज गगन-चर चरण में तुम ?
तव अमूर्त स्वरूप पर अब सध रहा है ध्यान-त्राटक !
आज तो मैं लख रहा हूँ तव छटा सब ओर इक टक !*

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १५ जनवरी १९४४

* भाई रणजित् सीताराम पण्डित के महाप्रयाण का समाचार पाकर ।

तेरा मेरा नाता क्या है

तेरा मेरा नाता क्या है ? यह, मैं जग को क्या समझाऊँ ?
खिसिर-खिसिर हँसने वालों को मैं क्यों हृदय-मर्म बतलाऊँ ?

१

कितने हैं जो मानव-हिय का द्वन्द्व समझ सकते हैं, प्रियतम ?
कितने हैं जो सह-अनुभव की व्यथा हिये रखते हैं, प्रियतम ?
इस छिद्रान्वेषण-रत जग में सभी छिद्र लखते हैं; प्रियतम !
यह लीला लख-लख मन ही मन क्यों न निरंतर मैं मुसकाऊँ ?
तेरा-मेरा नाता क्या है ? यह मैं जग को क्या समझाऊँ ?

२

जग से मैं क्या कहूँ कि तू है मेरा जीवन-सन्ध्या-तारा !
मेरे सूने मन-अम्बर का तू ही तो है एक सहारा !!
औचित्यानौचित्य-व्याधि से ग्रस्त हुआ है जग बेचारा;
जग को अपनी-सी कहने दे ! मैं अपनी-सी करता जाऊँ !!
तेरा-मेरा नाता क्या है, यह मैं जग को क्या समझाऊँ ?

३

ढीठ समझता है तू मुझको ? तो ऐसा ही समझ, हठीले;
मैने तो अपनी छाती पर लिये जगत के बाण नुकीले;

अपवादों के व्रण न कर सके मेरे लोचन गीले-गीले;
मैं तो तेरा कहलाता हूँ ! मैं क्यों इस जग का कहलाऊँ ?
तेरा-मेरा नाता क्या है ? यह, जग को क्यों कर समझाऊँ ?

४

जब मेरी सुकुमार भावना तुझ में ही केन्द्रित हो आई,
मेरी स्नेह-साधना ही जब तुझ में अपने को खो आई;
जब कि हुई नभ-मंडप नीचे तेरी-मेरी स्नेह-सगाई,
तब मैं क्यों न दिवस-निशि तेरे आराधन के गायन गाऊँ ?
तेरा-मेरा नाता क्या है ? यह मै जग को क्या समझाऊँ ?

५

लोग कहेंगे : मैंने ढूँढा क्यों निज पीतम साँझ हुई जब ?
इतना अवसर बिता दिया क्यों मैने यों ही क.ते अब-तब ?
क्या उत्तर दूँ ? समझ सकेंगे क्या ये जग जन मेरा मतलब ?
इन अंधों के आगे रोकर मैं क्यों अपने नयन गँवाऊँ ?
तेरा-मेरा भेद-भरम यह, इस जग को क्यों कर समझाऊँ ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १७ फरवरी १९४४

षराढ सिंहावलोकन

क्यों करूँ विगतावलोकन ?

है अतीत विषादमय; तौ भी करूँ क्यों अश्रु-मोचन ?

क्यों करूँ विगतावलोकन ?

१

षराढ-ऐसे बैठ कर देखा किये चुपचाप बादल;

और बस सोचा किये उन गत दिनों की बात बेकल;

है यही लक्षण कि मानव हो चला असमर्थ, पागल;

मैं नपुंसक क्यों बनूँ ? क्यों आज छलकें व्यर्थ लोचन ?

क्यों करूँ विगतावलोकन ?

२

मानता हूँ : प्राण-मन्थन-कारिणी हैं विगत घड़ियाँ;

किन्तु बन्धन-शील हैं गत शृङ्खला की कठिन कड़ियाँ;

क्यों न भावी काल-माला की गिनूँ मैं आज लड़ियाँ ?

है निपट निष्कर्म्ममय यह व्यर्थ का सिंहावलोकन ?

क्यों करूँ विगतावलोकन ?

३

आज मेरे सामने भावी-क्षितिज-विस्तार फैला,
हो रही है आज यह निर्म्माण औ', संहार-खेला;
विगत दर्शन की नहीं है आज अलसित थकित बेला;
आज आँखों में आँजा है दूर-दर्शन-भाव-रोचन;
क्यों करूँ विगतावलोकन ?

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क ७-११-३८

सखे !

१

गाते रहे जनम भर तुम तो निपट निराशा गीत, सखे,
क्या आए थे निपट पराजय तुम अपने मन चीत, सखे ?
रोते और रुलाते तुमने काटा अपने जीवन को,
हार लगाए रहे गले से; तुमने त्यागी जीत, सखे।

२

साख गँवाई, खोई तुमने अपनी सब परतीत, सखे,
आँसू की लड़ियों-लड़ियों में जीवन हुआ व्यतीत, सखे;
तुम्हें कौन पतियाएगा अब, जब तुम हुए निराशी-से ?
यौवन एक कहानी है अब; वह अब बना अतीत, सखे।

३

किस पत्थर पर समुद चढ़ाया तुमने हिय-नवनीत, सखे ?
किसके सम्मुख हुए, अहो, तुम, जाकर प्रणत, विनीत, सखे ?
सोचो रच कहीं पत्थर भी रस-वश पिघला करते हैं ?
अरे, उपल-मूर्त्तियाँ हुई हैं, कहो, कभी परिणीत, सखे ?

४

लहराए अब स्मरणाङ्गन में क्यों कोई पटपीत, सखे ?
अरे याद ही क्यों रह जाए ? जब कि गए दिन बीत, सखे ?
हृदय बने क्यों आज अखाड़ा, आशा और निराशा का ?
इसके पार क्यों न तुम जाओ, हो निःशङ्क, अभीत, सखे ?

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क २ अप्रैल १९४३

हम हैं मस्त फ़कीर

१

हमसे दूर रहो री संतत, हम हैं मस्त फ़क़ीर !
बाघंबर से कहो क्यों बँधे चीनांशुक का चीर !
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर !

२

हमें मिला है सतत अटन का यह प्रसाद-अभिशाप;
गृही लोग, हम अनिकेतन की क्या जानें सुख-पीर ?
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर !

३

हम क्या जानें दृग-अंजन की पतली-पतली रेख ?
हम तो जान सके हैं केवल मग की 'न-इति-'लकीर ।
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर ।

४

हमें मिले हैं पथ में जब-तब कुछ लोचन स्मयमान,
जो हम से सैनों में बोले : दिखलाओ हिय चीर !
किन्तु हम ठहरे मस्त फ़क़ीर !

५

तुम्हें मिली है मानव हिय की यह चंचल ठकुरास !
पर, हमको तो मिली अचंचल मस्ती की जागीर !
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर !

६

क्या चिन्ता जो हम आ बैठे कारागृह में आज ?
क्या भय, जो हम को घेरे है यह ऊँची प्राचीर ?
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर !

७

तुम समझो हो कि अब हो चले हम नवीन, प्राचीन !
क्यों भूलो हो कि हम अमर हैं !! हम हैं लौह शरीर !!!
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर !

८

क्या पूछो हो पता हमारा ? हम हैं अगृह, अनाम !
यही पता है कि है कहीं भी अपनी नहीं कुटीर !!
सखी री, हम है मस्त फ़क़ीर !!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २९ दिसम्बर १९४३

प्रिय, त्वम् मय कर दो मम तन-मन

प्रिय, त्वम् मय कर दो मम तन-मन;
ऐसा कर दो मुझे कि मैं अब बिसरूँ अलग-थलग अपनापन;
प्रिय त्वम् मय कर दो मम तन-मन।

१

मैंने बहुत किया चिन्तन; पर, खुल न सकी यह गाँठ हृदय की;
नहीं सुन सका हूँ अब तक ध्वनि अपनी हार, तुम्हारी जय की;
आज हारने बैठा हूँ मैं; नहीं लालसा मुझे विजय की;
निज को खोकर, तुम्हें पा सकूँ, यह वर दो मेरे करुणायन;
प्रिय, त्वम् मय कर दो मम तन-मन;

२

जैसे अपने तन में मुझको भासित होता है अपनापन;
जैसे अपनों को पा करके यह हिय कर उठता है झन-झन;
वैसे ही मैं देख सकूँ इस निखिल विश्व के सब जड़-चेतन;
अपने और पराए के अब कट जाने दो ये सब बन्धन;
प्रिय, त्वम् मय कर दो मम तन-मन।

३

ऐसा वर दो कि मैं एक टक संतत तव मुसक्यान निहारूँ;
सदा रहो तुम मेरे सम्मुख, मैं तुम पर निज तन-मन वारूँ;
सजन, बदो तुम मुझसे बाजो, तुम जीतो, मैं संतत हारूँ;
टूटें मेरे सीमा-बन्धन, जब आओ तुम मम गृह लघु बन;
प्रिय, त्वम् मय कर दो मम तन-मन।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २३ दिसम्बर १९४२

प्रारा, तुम्हारे कर के कंकरा

प्राण, तुम्हारे कर के कंकण,—
मानो मेरे बहुत पास ही आज बज उठे खन-खन, खन-खन !
प्राण, तुम्हारे कर के कंकण ।

१

मैंने नयनोन्मीलन करके इधर-उधर, सब ओर निहारा ;
पर, लोचन-गत हुई मुझे तो यह प्राचीरवती दृढ़ कारा ;
मेरी काल-कोठरी सूनी; अर्गल-बद्ध द्वार बेचारा ;
ना जानें, आ गया कहाँ से तव कंकण-किंकिणि का सिंजन ?
प्राण, तुम्हारे कर के कंकण ।

२

बजा रहे हो अन्तर में क्या ये भूषण, ओ हृदय-निवासी ?
बलि जाऊँ ! इससे तो मेरी बढ़ जाती है और उदासी ;
श्रवण-संस्मरण ये आए हैं मुझे लगाने स्वन की फाँसी ;
झंकृति-संस्मृति बढ़ा रही है यह मेरा दूभर सूनापन !
प्राण, तुम्हारे कर के कंकण ।

३

दृग-गत स्मृति तो थी ही, पर, अब जाग उठे ये श्रवण-संस्मरण ;
औ' ये स्पर्श नासिका, रसना, सभी, कर उठे स्मरण-अनुकरण ;
आज बने मेरे परिपन्थी, मुझ बेबस के सकल उपकरण ;
मुझसे ही विद्रोह कर चले मेरे ये लालित इन्द्रिय-गण !
प्राण, तुम्हारे कर के कंकण ।

४

मेरा स्पर्शन-स्मरण कर रहा, प्राण, तुम्हारा मधु आलिंगन ;
मेरी यह रसना रस भीनी स्मरण कर रही अधरामृत-कण ;
नासा को हैं स्मरण अभी तक, प्रिय, तव अंगराग के स्मर-घ्राण ;
औ' मँडराता ही रहता है, अहनिशि स्मरण मत्त यह मम मन ,
प्राण, तुम्हारे कर के कंकण ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २१ दिसम्बर १९४३

सजन, करो संतत रस-वर्षण

सजन, करो सन्तत रस-वर्षण,
करो स्नेह फुहियों से मेरे प्यासे रोम-रोम का हर्षण
सजन, करो संतत रस-वर्षण।

१

ललक निहारे हैं मैंने वे रस-राते तव नयन अचंचल;
मैंने निरखे हैं मद भीने, स्वप्न-भार से झुके दृगंचल;
प्रियतम, तव नयनों में मैंने निरखा अपना जीवन-मंगल;
उन्हीं दृगों से नित बरसाओ मेरे मरु-जीवन में रस-कण;
सजन, करो संतत रस-वर्षण।

२

कितना नीलाकाश दृगों में, मेरे प्राण, दुराए हो तुम?
कितना सीमाहीन दिगन्तर नयनों में भर लाए हो तुम?
कितना जल-थल अनिलांबर यह, कहो पार कर आए हो तुम?
कहाँ-कहाँ तुम मुझे मिले हो? बोलो, मेरे नव सनेह-घन!
सजन, करो संतत रस-वर्षण।

३

महाकाश ही नहीं दृगों में देख रहा हूँ कालान्तर भी,
तव नयनों की गहराई में हैं युग-युग के महदन्तर भी!
उनमें निमिष छिपे हैं, साजन, और दुरे हैं मन्वन्तर भी!!
वर्त्तमान है, विगत काल हैं, हैं उनमें भावी के भी क्षण;
सजन, करो संतत रस-वर्षण।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २० दिसम्बर १९४३

तुम न आना अतिथि बनकर

तुम न आना मम भवन, प्रिय, आज मेरे अतिथि बनकर,
तुम नहीं हो अतिथि, तुम हो नित्य गृहपति मुदित मनहर;
तुम न आना अतिथि बनकर !

१

कमल-दल, नव मधुकरी को, क्यों अतिथि अनजान मानें ?
क्यों न अलि-गुञ्जार को वे निज समर्पण तान मानें ?
और, तुमको भी, कहो, क्यों अतिथि मेरे प्राण मानें ?
क्या पराए हो गए तुम, जो हुए हो दूर क्षण भर ?
तुम सदा मम प्राण मनहर !

२

समय-पट-आवरण में दुर, तुम बने कब से अतिथि मम ?
काल-सीमा क्यों बने, बोलो सजन, सीमा-परिधि मम ?
गूँजते हैं शून्य मभ में मन्द्र सन्तत स्वर 'न-इति' मम ?
क्या करेगा यह बिचारा काल-दिक्-आवरण तनकर ?
तुम न आना अतिथि बमकर ?

३

क्या मुझे पार्थिव विवशता दूर तुमसे कर सकेगी?
अन्तराय अमाप क्या यह मम हृदय में भर सकेगी?
यह वियोग समुद्र, मेरी श्रद्ध-नौका, तर सकेगी!!!
उदित होगे हृदय-नभ में, पूर्ण शशि सम, तुम गगन-चर!
तुम न आना अतिथि बनकर!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १० नवम्बर १९४४

मेरे भौन लगी आग

माई, मेरे भौन लगी अति ही प्रचण्ड आग,
मोते कहि रह्यौ कोउ : बावरी, री, जाग-जाग।

१

अलसानी मैं नितान्त, पाँव तान सोय रही;
मैं तो घर-बार निज आँख मूँदि खोय रही;
आपुनपौ छार होत, मैं सालस जोय रही;
अजहूँ ना जाग्यौ मेरी हिय-निद्रा कौ विराग;
मोते कहि रह्यौ कोउ; बावरी, री, जाग-जाग।

२

धधक्यौ है काम-राग, धधक्यौ है क्रोधानल,
धधकि रही है द्वेष-दम्भ-रार पल-पल;
फूट्यौ ज्वालामुखी मेरो; धसक्यौ है धरातल;
मेरे घर खेलि रहे मेरे रिपु अग्नि-फाग!
माई, मेरे भौन लगी अतुल, प्रचण्ड आग!

३

इन्हें शत्रु कहूँ? किंवा कहूँ इन्हें निज मीत?
इनके बिना न होती मानवता मनोनीत!
तऊ, ये, उँडेलि आग, करि रहे मोहि भीत,
झुलसि भयौ है मेरौ मन-हंस कारौ काग!!
माई, मेरे भौन लगी अतुल, प्रचण्ड आग!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १७ अगस्त १९४४

आओ, प्रिय हृदय लगो

अब मत बिलमो, प्रियतम, आ जाओ, हृदय लगो,
दूर-दूर से ही तुम निज जन को अब न ठगो,
आओ, प्रिय हृदय लगो !

१

आओ मम मन-आँगन, मेटो यह अन्तराय,
मेटो, दिक्-काल-जनित मेरी हिय-हाय-हाय;
तुम्हीं ढरो, मेरे तो शिथिल हुए सब उपाय;
निज जन को अंगीकृत कर लो, अब मत बिलगो;
आओ, प्रिय हृदय लगो !

२

ओस-बिन्दु ने नभ से आकर चूमे शतदल,
दूर देस के अलिगण उन पर झूमे पल-पल,
और, एक तुम हो, जो मुझको भूले, चंचल,
आए हैं शुभ क्षण अब, विरति रंग तुम न पगो;
आओ, प्रिय हृदय लगो !

३

मम उमंग-आशाएँ तुम बिन सब रीती हैं,
स्वप्निल हैं वृत्तियाँ, जो मेरी मन चीती हैं;
तुम बिन जागृत घड़ियाँ तन्द्रिल-सी बीती हैं,
मैं तो तब जागूँ जब, तुम भी मम हिये जगो;
आ जाओ, हृदय लगो !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १३ अगस्त १९४४

मेरा क्या काल कलन ?

मेरा क्या दिवस-मान ? मेरा क्या वर्ष-गणन ?
क्या मेरे पल, मुहूर्त्त ! मेरा क्या काल-कलन ?

१

सूने हैं तुम बिन तो मेरे सब दिवस-प्रहर,
बाहर सब सूना है, सूना है मम अन्तर,
लहराता है सम्मुख शून्यार्णव हहर-हहर—
जिस पर अस्तित्व-नाव मेरी करती नर्त्तन;
मेरा क्या काल कलन ?

२

तुमने स्वप्नों में भी अब आना छोड़ा है,
मैं कैसे पूछूँ, क्यों यों नाता तोड़ा है ?
परीक्षार्थ ही क्या यों मुझसे मुँह मोड़ा है ?
मैं कर ही जाऊँगा यह विछोह भार-वहन !
मेरा क्या काल कलन ?

३

सतत प्रतीक्षा ही में वर्त्तमान जाता है,
नित्य प्रतीक्षा लेकर मम भविष्य आता है,
यह अनन्त काल मुझे अपलक ही पाता है,
बीत रहे हैं दिन-क्षण धरते तव ध्यान, सजन !
मेरा क्या काल कलन ?

४

अज्ञ गणित क्या जाने मम क्षण कितने विशाल ?
प्रतिक्षण में उलझा है कल्पों का ग्रथित जाल !
तुम बिन तो लघु त्रुटि भी बनती आनन्त्य काल,
तुमको पाकर बनते युग-युग भी लघुतम क्षण !
मेरा क्या काल कलन ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १० मई १९४४

बढ़ रहा है भार मेरा

आप ही हलका हुआ था टोह का सब भार मेरा;
था समर्पित तव चरण में सफल हा-हा-कार मेरा;
टोह का संभार मेरा !

१

एक दिन तुम विहँसते-से, मुझ अयाचित की डगर में—
जब पधारे थे, मची थी धूम तब मेरे नगर में;
उस समय मम भाग्य की ही बात थी प्रत्येक घर में;
लोग कहते थे कि 'अब तो हो गया उद्धार तेरा'—
अब कहाँ वह भार मेरा ?

२

किन्तु बरबस पड़ गया हूँ आज तुम से दूर, प्रियतम;
वक्र-सी है भाग्य-रेखा; है परिस्थिति क्रूर, प्रियतम;
मम मनोरथ हो रहे हैं आज चकनाचूर, प्रियतम;
शून्य फिर से हो गया है वह बसा संसार मेरा;
फिर बढ़ा है भार मेरा !

३

जब कि तुम थे पास, तब था इस गगन का रङ्ग अनुपम;
जब कि तुम थे पास, तब थे चमकते रज-कण चमाचम;
कोकिला के कण्ठ में था तब मिलन का राग पंचम ;
अब हुआ कैसा न जानें सब जगत-व्यवहार मेरा;
बढ़ रहा है भार मेरा !

४

रात की इस चाँदनी की रौप्यता कुछ खो गई है;
और, कोकिल की मदिरता भी तिरोहित हो गई है;
शून्यता, मम डगर में, अनगिनत कण्टक बो गई है;
शून्य है दिन, साँझ सूनी, और, सूना है सबेरा;
फिर बढ़ा हिय-भार मेरा !

५

एक है यह चित्र, जिसको देखता हूँ मैं निरन्तर;
किन्तु, यह क्या सान्त्वना दे मधुमिलन क्षण के अनन्तर ?
स्मरण तो हैं और भी करते विवर्द्धित काल-अन्तर !
क्षुब्ध होता है अधिक यों विरह-पारावार मेरा !
टोह का फिर भार मेरा !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क ११ अप्रैल १९४४ }

आ जाओ; प्रिय, साकार बने

मेरे जीवन के चिर सुन्दर सपने, आओ साकार बने;
ओ मेरे स्नेहादर्श रुचिर, आओ, जीवन-व्यवहार बने।

१

मेरे प्रियतम, मेरे सुजान,
मेरे हिय के स्पन्दन स्वरूप,
मेरी पूजा के निरत ध्यान,
मेरे मानस-नन्दन अनूप,
मम मन-अम्बर में भासमान—
रवि-शशि-सम-चमको, ओ अरूप,
नभ गंग-धार से उमड़-छहर,
आ जाओ जीवन-धार बने।
अब तो आओ साकार बने।

२

यह मेरी शाश्वत टोह आज,
है अमित श्रान्त, हैं शिथिल पंख,
रख लो, प्रिय, मेरी लाज आज,
देखो, है मेरी शून्य अंक;
रवि ढला; सज रहा सान्ध्य-साज;
निशि आएगी; मैं हूँ सशंक,
यह भी क्या नाराजी प्रियवर?
आओ मेरे हिय-हार बने।
अब तो आओ साकार बने।

३

मेरी वीणा रस-राग-सनी— रोदन-गायन में रार ठनी;
कब रही तुम्हारे बिन ? साजन, बीते हैं इतने दिन, साजन;
तुम बिन मम गायन-भीर घनी– आओ स्वर भीने-भीने-से—
उमड़ी बोलो, किस दिन साजन ? रस-वश, वीणा के तार बने।
आ जाओ, प्रिय, साकार बने।

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क १६ जनवरी १६४३

विस्मरण

सजन के लिये तो सरल विस्मरण है,
हमारे लिये, किन्तु, वह तो मरण है,

१

बहती चली जा रही काल-नद-धार,
जिसमें तरंगित यही एक स्वर भार;
कल-कल कलिल पूर्ण तेरा सकल प्यार;
तेरे लिये है कहाँ स्नेह रस-सार ?
तूने किया वासना का वरण है,
तभी तो सजन ने किया विस्मरण है।

२

हवा जो पधारी सनकती, बहकती—
परिन्दों की टोली जो आई चहकती—

अपलक

कलियों की लज्जा जो छूटी महकती,
तो गोया हमें सुध य' आई दहकती :
य' जीवन है ? यह तो मरण-सन्तरण है;
सजन ने हमारा किया विस्मरण है !

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क २ जनवरी १९४३

सखि, वन-वन घन गरजे
(गीत)

सखि, वन-वन घन गरजे;
श्रवण निनाद-मगन, मन उन्मन, प्राण-पवन-कण लरजे;
 री सखि, वन-वन घन-गन गरजे।

१

परम अगम प्रियतमागमन की यह शंख-ध्वनि आई,
मन्थर गति रति चरण चारु की चाप गगन में छाई;
अम्बर कम्पित, पवन संचरित, संसृति अति सरसाई;
मन्द्र-मन्द्र आगमन-सूचना हिय में आन समाई;
क्षण में प्राण हुए उन्मादी; कौन इन्हें अब बरजे?
 री सखि, वन-वन घन-गन गरजे।

२

मेरा गगन और मम आँगन आज सिहर कर काँपा;
मेरी यह आह्लाद-विथा, सखि, बनी असीम अमापा;

तिमिर-भार

जग की छाती पर तिमिर-भार; सब ओर भर रहा अन्धकार;
जग की छाती पर तिमिर-भार।

१

कज्जल का वर्धमान भूधर,
उभरा नभ पर, उतरा भू पर;
आक्रान्त-सृजन के कण-कण हैं;
फैला है यह नीचे ऊपर;
यह तम है? या हिय-अंहकार? जग की छाती पर तिमिर-भार।

२

आ रहा आज यह मुँह खोले,
सब निगल रहा है बिन बोले;
अम्बर निगला, अवनी निगली;
यह निगल चुका जन-मन भोले;
सब कहीं इसी का है प्रसार; जग की छाती पर तिमिर-भार।

३

है इसका स्रष्टा कौन, अरे?
है किस दिशि उसका भौन, अरे?

वह कौन ? जो हमें देकर तम
हमसे रहता है परे-परे ?
तम भी क्या है उसका विकार ? सब दिशि क्यों छाया अन्धकार ?

४

है किसकी यह काली चादर ?
है कौन छिपा इसके भीतर ?
जो इसके अवगुण्ठन में हैं,
वह है क्या चिर सत-चित-सुंदर ?
यदि है; तब क्यों यह अनाचार ? क्यों जग के हिय पर तिमिर-भार ?

५

हमको कुछ-कुछ है ज्योति स्मरण !
हैं इसीलिये तो अडिग चरण !!
पर, पूछ रहा है हृदय आज—
स्मृति से कैसे हो तिमिर-हरण ??
हिय-धैर्य्य रहा है आज हार ! जग की छाती पर तिमिर-भार !!

६

पर, हम क्यों छोड़ें धैर्य्य आज ?
क्यो डिगे हृदय का स्थैर्य्य आज ?
निज में आमंत्रित क्यों न करें
हम, रवि-मण्डल, तारक-समाज ?
आओ, कर दें तम क्षार-क्षार ! मिट जाए जग का अन्धकार !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क २४ नवम्बर, १९४३

अस्तित्व-नाव

प्रियतम, जीवन-नद में मेरी अस्तित्व-नाव,
दोलित है, वाहित है, इसका रंच न टिकाव !
कंपित अस्तित्व-नाव !

१

नौ-बन्धन-कील[1] रहित, यह जर्ज्जर दारु-खण्ड,
जिसको नौका कह मै थामे हूँ नाव-दण्ड,
तिस पर, अब चल निकला विकट प्रभंजन प्रचण्ड,
इस क्षण, क्यों हो न शिथिल मम नौ-सन्तरण-चाव ?
जर्ज्जर अस्तित्व-नाव ।

२

अपनी इस नौका में मैं ही हूँ एकाकी;
मेरे हाथों में हैं क्षेपणियाँ[2] दुविधा की !
जीर्ण शीर्ण वात-वसन[3], दुर्गति है नौका की;
ऐसी तरणी का हो क्यों न निम्न-दिशि बहाव !
वाहित अस्तित्व-नाव ।

---

१ नौ बन्धन कील = लंगर, लांगल २ क्षेपणियाँ = डाँड, नाव खेने के डण्डे
३ वात वसन = पाल, जिसमें हवा भर जाने पर नाव गतिवती होती है ।

३

इस तरणी के हिय में बैठो जो तुम आकर;
तो निधड़क खेवेगा इसे तुम्हारा चाकर;
इसीलिये बुला रहा हूँ तुमको अकुलाकर;
तुम बिन है कठिन, सजन, इस धारा का चढ़ाव;
निम्न गमन-शील नाव ।

४

यह नौका-संचालन मेरा व्यवसाय नहीं,
नाविक होते हैं क्या मुझ से निरुपाय कहीं ?
तुमने मुझको फाँसा; यह क्या अन्याय नहीं ?
ले लो अपनी नौका; मुझसे क्या भाव-ताव ?
लो यह दुस्तरित नाव ।

५

तुम खेना जानो हो; तुम केवट हो प्रियतम;
पर, मैं क्या जानूँ यह नौका-संचालन-क्रम ?
नौका दी; तो देते नौ-विद्या कम-से-कम !
किन्तु अनाड़ी के सिर तुमने धर दिया दाँव !!
लो अपनी जीर्ण नाव !!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क ६ दिसम्बर १६४३

नयनन नीर भरे

अँखियन नीर भरे, राधा नयनन नीर भरे,
कई युगों से टेर रही है तुमको 'हरे ! हरे !!'
राधिका नयनन नीर भरे।

१

बहा जा रहा उसके हिय का सब नवनीत, अरे,
तुम तो बिलम रहे हो मधुपुर, यमुना पार, परे;
राधिका नयनन नीर भरे।

२

तुमने छोड़े ग्वाल गोप अब, कैसे काज सरे ?
गोकुल छोड़ चले मथुरा तुम नागर भेस धरे,
राधिका नयनन नीर भरे।

३

डूबे कहाँ ? कहाँ उतराये ! किस कुघाट उतरे ?
बड़े वीर तुम, कूबड़ से भी रंच न हृदय डरे;
राधिका नयनन नीर भरे।

४

तुमने कुबजा में रस देखा, तुम उस पर बिखरे;
उसकी उस कूबड़ से, बोलो, क्या रस-बिन्दु झरे ?
राधिका नयनन नीर भरे ।

५

तुम न पारखी चिर सुन्दर के; तुम हो अधकचरे;
वरना राधा-स्नेह-सुमन ये क्यों तुमने निदरे ?
राधिका नयनन नीर भरे ।

६

निश्चल स्नेह रौंदते हो तुम यों ही चरण-तरे;
अरे, कहीं न स्मरण-कण्टक बन यह तुमको अखरे ?
राधिका नयनन नीर भरे ।

७

बिना लिये, सन्तत अर्पण हित वह आई नियरे;
बिना दिये, इतना लेकर भी, तुम न रंच सिहरे !
राधिका नययन नीर भरे ।

८

जाओ, नित कुबजा-सँग खेलो, बोलो हरे-हरे;
कह दो राधा से वह अब तो यमुना डूब मरे;
ग्वालिन, नयनन नीर भरे ।

९

तुम निर्गुण, निर्दोष, सदा के, हम गुण-दोष भरे,
हमें डुबा कर स्नेह-सिन्धु में, बस, तुम खूब तरे।
राधिका नयनन नीर भरे।

ज़िला जेल उन्नाव, धुरेंहँडी,
दिनाङ्क २२ मार्च, १९४३

निराशा क्यों हिय मथित करे ?

निराशा क्यों हिय मथित करे ? निराशा क्यों हिय मथित करे ?
चारों ओर भयानक तम क्यों हमको व्यथित करे ?
निराशा क्यों हिय मथित करे ?

१

नयनवान ही के आगे तो आते हैं तम पुञ्ज;
पर, जो है जन्मान्ध निपट, वह, तम से क्यों सिहरे ?
निराशा क्यों हिय मथित करे ?

२

माना, आज छा रहा चहुँ दिशि, यह तम-राज्य अखण्ड;
पर, क्या कभी न जीवन-पथ में ज्योतिष्कण बिखरे ?
निराशा क्यों हिय मथित करे ?

३

इस दुर्दम तम अन्ध निबिड़ का कट जाएगा पाप;
आएगी ऊषा, आएगी, पगधर हरे-हरे;
निराशा क्यों हिय मथित करे ?

४

हम अनन्त के अभ्यासी हैं, हम न सान्त के दास,
अन्तवन्त तम की माया यह सन्तत क्यों ठहरे ?
निराशा क्यों हिय व्यथित करे ?

५

ये कज्जल के कोट भयानक, होंगे चकनाचूर,
डटे रहो पथ पर, मत बोलो मुँह से 'मरे-मरे !'
निराशा क्यों हिय मथित करे ?

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क ५ अप्रैल १६४३

घन-गर्जन-क्षण

१

और नहीं यदि कुछ दे सकते इस घन-गर्जन के क्षण में,
तो विस्मरण-हलाहल ही दो इस माटी के भाजन में;
सुन लो, घन तर्जन करते हैं,
अम्बर से रस-कण झरते हैं;
साजन, आज अमृत के घन भी
हिय में स्मर-फुहियाँ भरते हैं;
दो मीराँ का विष-प्याला ही इस असमय के सावन में,
यदि कुछ और नहीं दे सकते तुम घन-गर्जन के क्षण में।

२

कुलिश-कड़ाके से नभ भरती दामिनि पैठ गई मन में,
रोम-रोम रम रही बीजुरी; टीस उठी है सब तन में;
अम्बर में छाया अँधियारा;
अन्तर का स्मृति-दीप बिचारा,
चिन्ता-वात-प्रताड़ित, इङ्गित,
लप-झप, करता है हिय-हारा;
आकर इसे बुझा ही दो, अब छाए तम हिय-आँगन में;
क्यों बिन काज टिमटिमाए यह इस घन-गर्जन के क्षण में?

३

अमर मनोरथ तब सिहरे, जब घहरे घन गगनाङ्गन में;
नाच उठे कल्पना-मोर भी मेरे सूने निर्जन में;
घन विमान पर चढ़-चढ़ आई
मेरी संस्मृतियाँ दुखदाई;
ना जाने किस-किस गत युग की—
सुध-बुध ये अपने सँग लाईं ?
अब तो मम निस्तार निहित है, केवल आत्म विसर्जन में;
प्रिय, दे दो बस अमित हलाहल इस माटी के भाजन में।

४

समझा था : अमृतत्व हँसेगा मेरी रज के कण-कण में,
समझा था : रस-रास रचेगा मम सूने वृन्दावन में;
पर तुम बोले : कहाँ अभी रस ?
तेरा भाग्य सदा का नीरस !
घन गरजें या फुहियाँ बरसें,
तेरा नहीं चलेगा कुछ बस;
सच कहते हो, सजन, रिक्तता ही है मेरे भाजन में;
तुम क्यों देने लगे अमी रस इस घन-गर्जन के क्षण में ?

ज़िला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क ६ अप्रेल, १६४३

अपलक चख चमक भरो

(आसावरी-ध्रुपद)

मेरे प्रिय अलख-झलक, अपलक चख चमक भरो,
मेरे अन्तर तर में लोचन-मग से उतरो;
अपलक चख चमक भरो।

१

दृग-मग को घेरे है गहन सघन अन्धकार;
अम्बर के ऊपर है अमित निबिड़ तिमिर-भार;
ज्योति रहित तारा-पथ; भ्रान्ति भरित हिय-विचार;
कोमल द्युति-कर से मम नयन अरुण-अरुण करो;
अपलक चख चमक भरो।

२

दामिनि-रेखा-सम तुम चमको क्षितिजांगन में;
मुसकाती ऊषा-से छाओ मम आँगन में;
कुसुमित कलिका-से, प्रिय, खिलो हृदय-प्रांगण में;
नव आसावरी बने मम श्रवणों में बिहरो;
अपलक चख चमक भरो।

३

देखो तो आँखें ये श्वाऽसि-आस-त्रास-भरी,
तैर रही हैं दुर्दम तम में चिर प्यास-भरी,
अब तो दरसा दो, प्रिय, मंजुल, छवि हास-भरी,
ओ मेरी ज्योति छटा, अब तो तम तोम हरो;
अपलक चख चमक भरो।

४

अकुलाईं, मुरझाईं मन-मधुकर की पाँखें;
अकुलाया है जीवन; अकुलाई हैं आँखें;
इस तम में इधर-उधर, कहो, किधर, दृग झाँके ?
आओ, लोचन पथ में, चपल, अरुण चरण धरो;
अपलक चख चमक भरो।

५

सोचो तो नैंक, सजन, प्राण-व्यजन आतुर यह,
डोलेगा कब तक अति निरवलम्ब यों अहरह ?
जीवन इक भार हुआ, है विछोह यह दुस्सह !
या तो अब प्राण हरो, या हिय में तुम विचरो
अपलक चख चमक भरो।

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क १३ अक्तूबर १९४२,